

प्रकाशक .

मंत्री—श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
रागडी मोहल्ला, बीकानेर (राजस्थान)

•

प्रथम संस्करण : १९६४

•

मूल्य :

दो रुपये पचास नये पैसे

•

मुद्रक :

रामस्वरूप शर्मा,
राष्ट्र भारती प्रेस
कूचा चेलान
दिल्ली—६

प्राक्कथन

श्रीमज्जैनाचार्य श्री गणेशलाल जी म० सा० श्रमण-संस्कृति के ज्योति-पुञ्ज हैं। उनके प्रवचनों का यह संग्रह 'जैन संस्कृति का राजमार्ग' आद्यो-पान्त देखा। जैन-दर्शन के तात्त्विक विवेचन के साथ-साथ जैन-संस्कृति का स्पष्ट एवं प्रेरणादायक निरूपण इन प्रवचनों द्वारा हुआ है। इन प्रवचनों में स्पष्ट, सरल शैली में ज्योतिपुञ्ज आचार्य श्री गणेशलाल जी महाराज ने अपनी साधना की अनुभव प्रणीत चेतना को अभिव्यक्त किया है। आचार्य श्री ने अपने जीवन की निस्पृह साधना द्वारा जो सत्यानुभव किया, उसी के उद्गारों का यह उपयोगी समुच्चय है।

भारतीय धर्मों और धार्मिक संस्कृतियों का उद्भव मनुष्य की भावना के निरन्तर उद्वेग के शमन के लिए ही हुआ है। आत्म-शुद्धि और आत्म-लाभ का मूल आश्रय इतना ही है कि मनुष्य सत्य, शाश्वत नियमों के अनु-सार अपना जीवनयापन करे और अविचल पूर्णत्व प्राप्त करे। इस प्रयास का एकमात्र आधार धर्म है, नियम-ज्ञान नहीं। नियम ज्ञान होते हुए भी मनुष्य अपनी सहज प्रवृत्तियों के कारण अनियमित हो जाता है। अनियमित होने की मनुष्य की इस स्वाभाविक कमजोरी के निराकरण के लिए धार्मिक प्रेरणा की आवश्यकता रहती आई है। समाज-शास्त्रियों को अभी यह जानना चाहिए कि मनुष्य ज्ञान और विद्या प्राप्त करते हुए भी 'पालन' के लिए क्षमतावान् किस प्रकार होता है। जीवन की सभी कोमलताएँ अनुभव से प्रसूत होती हैं और क्षमता का यह प्रसव धर्म-पालन द्वारा ही होता है।

धर्म भावना अपने अत्यन्त सुघड़ स्वरूप में श्रद्धा है। बुद्धि-प्रक्रिया जीवन के भोग का उत्तेजन तो करती है, परन्तु पूर्णतः शमन नहीं कर पाती। यह शमन तो धर्म भावना द्वारा ही हो पाता है। मनुष्य अनन्त और असकीर्ण शाश्वत जीवन की कामना करता है, जिसकी तृप्ति धर्म भावना

द्वारा ही होती है। इस अतीन्द्रिय धारणा के स्वानुभव के लिए हमें ज्ञान, विद्या और विज्ञान एक सीमा के बाद आगे नहीं ले जा सकते हैं। घर्म भावना ही हमें इस क्षेत्र में प्रवेश देती है और यही कारण है कि ससार की अतुल्य ऋद्धि-सिद्धियों के रहते हुए भी धार्मिक महापुरुषों का प्रभाव सदियों तक मनुष्य के समूहों में धर किये रहता है।

आचार्य श्री गणेशलाल जी म० के प्रवचनों में उक्त घर्म भावना का व्यवहारिक प्रतिपादन किया गया है और जैन सस्कृति के सच्चे स्वरूप को सरलता से चित्रित किया है। साथ ही एक आकर्षण यह है कि इनमें विद्वत्ता का अभिमान कहीं नहीं है। सिर्फ जीवन के अपने अनुभवों का कथन है। जैन दर्शन के आधारी को अपने प्रवचन के प्रत्येक शब्द में प्रतिफलित करने का प्रयास किया है।

आचार्य श्री गणेशलाल जी महाराज का व्यक्तित्व एक सत्यान्वेषक का व्यक्तित्व है। जैन दर्शन का उनका ज्ञान और उपदेश सासारिकों के पथ प्रदर्शन के उपयुक्त है एवं आचार आदर्श जीवन के सत्य को प्रगट करता है। यही कारण है इस भौतिकवाद के वातावरण में आज भी हम आप श्री जैसे आचार्य के दर्शन कर सकते हैं।

—जनादेनराय नागर

उपकुलपति राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

प्रकाशकीय

श्रीमज्जनाचार्य पूज्य श्री गणेशलालजी म० सा० द्वारा दिये गये अनेक महत्त्वपूर्ण प्रवचनों में जैन-संस्कृति से सम्बन्धित प्रवचनों का यह संग्रह "जैन-संस्कृति का राजमार्ग" के नाम से प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष हो रहा है। इन प्रवचनों में जैनधर्म के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों की सरल सुबोध भाषा में विवेचना की गई है और जिनकी मौलिकता गभीरता एवं विषयता का मूल्यांकन पाठक स्वयं कर सकेंगे।

आचार्यश्री के अनमोल प्रवचन जनमानस में जैनसंस्कृति की महत्ता का प्रचार करने में सक्षम हैं, इसी भावना से प्रेरित होकर इस प्रवचन संग्रह के प्रकाशन में निम्नलिखित विदुषी वहिनो ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है—

श्रीमती भूरीबाईजी सुराना, रायपुर ५००)

श्रीमती उमरावबाईजी मूपा, मद्रास ५००)

इसके लिए आप दोनों धन्यवादाई हैं और आशा है कि आपकी भावना से प्रेरणा लेकर अन्य बन्धु भी साहित्य प्रचार में आर्थिक सहयोग प्रदान करेंगे।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आचार्यश्री के प्रवचन साधु-भाषा में होते थे। फिर भी प्रमादवश संपादक या संग्राहक द्वारा भाव या भाषा सम्बन्धी कोई भूल हो गई हो तो उसके उत्तरदायी संपादक या संग्राहक हैं और ज्ञात होने पर आगामी संस्करण में सुधार हो सकेगा।

पुस्तक की प्रस्तावना लिखने के लिए राजस्थान के जाने-माने साहित्यज्ञ श्री जनार्दनरायजी नागर के हमें धन्यवाद आभारी हैं।

इस पुस्तक का प्रकाशन एक दूसरी दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। आचार्यश्री के आदर्शों के स्मरण को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये आप श्री की स्मृति में स्थापित होने वाली 'श्री गणेश स्मृति ग्रंथमाला' का शुभा-

रम्भ आप श्री के महत्त्वपूर्ण प्रवचनों से हो रहा है। जिससे हमारी यह भावना साकार हो रही है कि ग्रथमाला के उद्देश्य—जैनधर्म और आचार के शाश्वत सिद्धान्तों का लोकभाषा में प्रचार करना—में हम सफलता प्राप्त करेंगे।

निवेदक—

जुगराज सेठिया, मंत्री

सुन्दरलाल तातेड़, सहमंत्री

महावीरचन्द्र घाड़ीवाल, सहमंत्री

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन मध, वीकानेर।

प्रकाशन में सहयोगिनी बहिनों का परिचय

श्रीमती भूरीवाईजी सुराना, रायपुर—श्रीमती भूरीवाईजी सुराना रायपुर स्वर्गीय श्री अग्ररचन्दजी सुराना की धर्मपत्नी हैं। आप रायपुर स्था० जैन महिला सघ की उपाध्यक्षा हैं। जीवन सादा और सरल है। आपके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ हैं। दोनों पुत्र श्री चम्पालालजी व सोहनलालजी धर्मप्रेमी, समाजसेवी, कर्मठ कार्यकर्ता और सफल व्यापारी हैं। आपके फर्म का नाम 'अग्ररचन्द चम्पालाल' और 'अग्ररचन्द सोहनलाल' है। रायपुर में कपड़े के सबसे बड़े व्यापारी हैं। आगर एजेन्सी में मिलो के साथ कपड़े का थोक व्यापार का काम होता है। श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन सघ को आपका और आपके सुपुत्रो का तन-मन-धन से सक्रिय सहयोग प्राप्त है।

श्रीमती उमरावबाई जी मूथा, मद्रास—श्रीमती उमरावबाई जी मूथा स्वर्गीय श्री सज्जनराज जी मूथा मद्रास की धर्मपत्नी हैं। छोटी उम्र में ही आपको वैधव्य का दुःख सहना पड़ा। आपका जीवन धार्मिक, सरल और सादा है। आपका दयालु स्वभाव और स्वधर्मी वात्सल्य प्रशंसनीय है। आपके ससुर श्रीमान् बीजराजजी सा० मूथा का श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ को तन-मन-धन से सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहता है।

संघ की ओर से हम आपका आभार मानते हैं और आशा है आगामी प्रकाशनों के लिए आपका सक्रिय सहयोग प्राप्त होगा।

मंत्री, श्री अखिल भारतवर्षीय
साधुमार्गी जैनसंघ

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ
१. जैन-संस्कृति की विशालता	...	८
२. महावीर का सर्वोच्च स्वाधीनता	...	१६
३. जैन अहिंसा और उत्कृष्ट समानता	...	२६
४. स्याद्वाद सत्य का साक्षात्कार	...	३५
५. कर्मवाद का अन्तरहस्य	...	४५
६. अपरिग्रहवाद याने स्वामित्व का विसर्जन	...	५७
७. शास्त्रों के चार अनुयोग	...	६६
८. जैन दर्शन का तत्त्ववाद	...	८०
९. सर्वोदय-भावना का विस्तार	...	९०
१०. जैन धर्म का ईश्वरवाद कैसा ?	...	९८
११. जैन सिद्धान्तों में सामाजिकता	...	१०६

जैन-संस्कृति की विशालता

मैं आप के समय आज जैन दर्शन एवं संस्कृति की विशालता पर कुछ प्रकाश डालना चाहता हूँ। यह समझने योग्य बात है कि जहाँ अन्य दर्शन वा संस्कृतियाँ एक खास घेरे में अपने को सीमित करती हुई चली हैं वहाँ जैनदर्शन का आधार अत्यन्त व्यापक व गुणो पर आधारित रहा है इसमें कभी संकुचनता व कुत्सित साम्प्रदायिकता का प्रवेश नहीं हो पाया। मूलमंत्र नवकार मंत्र में लेकर ऊँचे-मे-ऊँचा सिद्धांत आत्मा के विकास की बुनियाद को लेकर निर्मित हुआ है।

जनदर्शन में न तो व्यक्ति-पूजा को महत्त्व दिया गया है, न ही संकुचन घेरे में सिद्धान्तों को कसने की कोशिश की गई है। आत्म-विकास के संदेश को न सिर्फ समूचे विश्व को बल्कि समूचे जीव-जगत् को सुनाया गया है।

‘जैन’ शब्द का मूल भी इसी भावना की नींव पर अकुरित हुआ है। मूल संस्कृत धातु है ‘जि’, जिसका अर्थ होता है—जीतना। जीतने का अभिप्राय कोई क्षेत्र या प्रदेश जीतना नहीं बल्कि आत्मा को जीतना, आत्मा की बुराइयों और कमजोरियों को जीतना है। आप अभी बालक है, फिर भी कभी अवश्य महसूस करते होंगे कि जब कभी आप झूठ बोले या कि कुछ चुरा लो तो आपका मन कांपता होगा, फिर उस गलती को सोचकर एक घृणा पैदा होनी होगी और उसके बाद आप लोगों में से जो मजबूत इच्छाशक्ति के छात्र होंगे, वे मन में निश्चय करते होंगे कि अब आगे से कभी ऐसी बुराई नहीं करेंगे। यही एक तरह से जीतने की प्रक्रिया है।

मनुष्य की आत्मा में वातावरण से, संस्कार से यानी कर्म-प्रभाव में पाप कार्य करने की प्रवृत्ति होती है तो उस समय उसकी मर्म्यक् प्रतिक्रिया रूप जिस उत्पानवागी भावना का विस्तार होने लगता है और ज्यो-ज्यो वह

भावना बलवती होती जाती है तो समझना चाहिए कि उसकी आत्मा में जीतने का क्रम शुरू हो गया है। मन के विकारों को नष्ट करते हुए ज्यो-ज्यो आत्म-विकास की सीढियाँ ऊपर चढ़ते जाते हैं, जीतने का क्रम भी ऊपर चढ़ता जाता है और एक दिन उस भव्य आत्मा का मुक्ति के महाद्वार में प्रवेश होना है।

तो यह है हमारे यहाँ विजय का स्वरूप, जिसमें विजेता आत्मा होता है किन्तु विजित कोई नहीं होता। इस प्रकार जो अपने कर्मशत्रुओं पर, विकारों पर पूरी तरह से विजय प्राप्त कर ले वे 'जिन' कहनाते हैं। विजय के इस क्रम को हमारे यहाँ गूँथा गया है गुणस्थान की श्रेणियों में। आत्मा की विचार-सरणियों के साथ गुणस्थान की श्रेणियाँ चलती हैं, जिनका चरम विकास 'जिनत्व' में होता है।

ऐसे 'जिन' भगवान ने चरम विकास के धरातल पर चढ़कर अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य से उद्भूत जिन सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला, वे कहलाये जैन-सिद्धान्त और उनके अनुयायी जैन। तो जैन का सम्बन्ध है अपने आत्म-शत्रुओं पर विजय से, अपनी आत्मा के गुणों के विकास में। इसलिए जैन की कोई जाति, कोई वर्ग या कोई धेरे वाली बात नहीं है। जैन कोई भी व्यक्ति हो सकता है जो अपनी कोशिशों को अपने मन को ऊपर उठाने में लगाए, आन्तरिक गुणों को चमकाए। जैनत्व का सम्बन्ध किसी खास क्षेत्र, व्यक्ति या समूह में नहीं, बल्कि मुख्यतः गुणों से है और गुणों का क्षेत्र सदैव सर्वव्यापी और विशालतम होता है।

इसलिए जैनधर्म को समझने के लिए सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक है कि जैनधर्म के सिद्धान्तों में साम्प्रदायिकता को कतई म्यान नहीं है। अमुक समाज या व्यक्ति ही इसके पालन करने का अधिकारी है—इस क्षुद्रवृत्ति से अछूता रहना ही यह दर्शन सबसे पहले मिखाता है। वह धर्म, धर्म नहीं जो विकारी भेदभाव की नींव पर खड़ा हो। धर्म का सम्बन्ध जाति या देश में नहीं, गुणों में होना चाहिए। जो व्यक्ति अपने जीवन में

धार्मिक गुणों का आचरण करना है, वही सच्चे अर्थों में धार्मिक है, वरना यह कहना गलत होगा कि एक जैन इसलिए जैन है कि उसने जैन धराने में जन्म तो ले लिया है किन्तु जैनत्व का पालन नहीं करता ।

स्मरण रखें कि जब-जब किसी भी धर्म या संस्कृति ने अपने अनुयायियों को यथायोग्य मुक्त चिन्तन का अवसर नहीं दिया और उन्होंने कथित सिद्धान्तों के कठोर घेरे में बाँधे रखने का प्रयास किया तो वहाँ कदाग्रह फैला है । जहाँ बिना दिमाग के दायरे को खोले हुए एक हठ की जाती है, एक गलत आग्रह बनाया जाता है, वहाँ हमेशा घेरेबन्दी का कदाग्रह फैलता है और कुत्सित साम्प्रदायिकता पनपती है । क्योंकि कुत्सित साम्प्रदायिकता की बुनियाद गुणों पर नहीं बल्कि, बेसमझी की गुटबन्दी पर होती है और गुटबन्दी खड़ी होती है व्यक्ति-विशेष के आश्रय पर । क्योंकि एक व्यक्ति या तो अपनी कोई जिद पूरी करना चाहता है या अपने आग्रह को दूसरों पर बलात् लादना चाहता है, तब वह अपने प्रशंसकों का एक गुट बनाता है और वह गुट सिद्धान्तों को नहीं देखता, गुणों को नहीं परखता, सिर्फ अपने नेता का कदाग्रह पूरा करना चाहता है और उसी प्रयोजन से हरसंभव प्रयत्न करना चाहता है । यही है साम्प्रदायिकता की बुनियाद, जिसमें गुणों का कोई सम्बन्ध नहीं होता । क्योंकि जो प्रवृत्ति गुणों पर आश्रित होती है वहाँ कभी भी गुटबन्दी नहीं हो सकती । जैनधर्म गुणों के कारण ही व्यक्ति को महान समझता है, जन्म व जाति की दृष्टि में नहीं । उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है कि जाति में नहीं, वरन् कर्म में ही क्षत्रिय, कर्म से ही ब्राह्मण और कर्म में ही वैश्य व शूद्र माना जाना चाहिए । कितना विशाल है जैनदर्शन जहाँ व्यक्ति का व्यक्ति के नाते कोई मोल-महत्त्व नहीं, महत्त्व है तो उसके विकास का, उसके गुणों का ।

एक महत्त्व की बात बताऊँ कि जैन दर्शन व संस्कृति के प्रणेताओं व प्रवर्तकों में भी कितनी विशाल उदारता थी । किसी भी अन्य दर्शन का बन्दना-मन्त्र लीजिए, उसमें नाम में किसी-न-किसी महापुरुष की बन्दना की गई होगी, किन्तु जैन-दर्शन का बन्दन-मन्त्र जो उसका महामन्त्र नवकार

मत्र कहलाता है, इस भावना का प्रतीक है कि निजत्व का व्यामोह जैन-संस्कृति को कभी छुआ तक नहीं है। देखिए, यह है हमारा नवकार मत्र—

“गमो अग्रिहताण” —उन महापुरुषों को नमस्कार है जिन्होंने राग-द्वेष आदि शत्रुओं को नष्ट कर दिया है और चरम वीतरागता को प्राप्तकर परिपूर्ण समदर्शी सर्वज्ञ बन गए हैं। इसमें भगवान् ऋषभदेव या महावीर किसी का नाम से उल्लेख नहीं है। वह आत्म-विजेता कोई भी हो सकता है। जैन तो हम गुणवारी सभी महापुरुषों को नमस्कार करना चाहता है।

“गमो सिद्धाण” —उन महापुरुषों को नमस्कार है जिन्होंने अपने आत्म-विकास को सिद्ध बना दिया है, जो मुक्तिगामी हो गए हैं, जो निराकार, अव्यावाध मुख वाले हैं।

“गमो आयरियाण” —उन सभी आचार्यों को नमस्कार है जो अपने पंच महाव्रत आदि ३६ विशिष्ट गुणों के आधार पर आचार्य बने हैं और आचार्यत्व को निभाते हैं।

“गमो उवज्झायाण” —उन उपाध्यायों को नमस्कार है जो पंच महाव्रत आदि गुणों से युक्त होकर मुख्यतः वीतरागप्ररूपित शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में मलग्न हो।

“गमो लोण सव्व साहूण” —लोक (ससार) में सर्व साधुओं का नमस्कार है। साधु वह जिसमें साधुत्व-सयम और साधना के गुण हो। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्य, उपाध्याय या साधु सभी में गुणों का समावेश मानकर वन्दना की है।

जैनधर्म उस सृष्टिकर्तृत्व में भी विश्वास नहीं रखता, जहाँ यही मान्यता हो कि ईश्वर तो एक है और वह हमेशा ईश्वर ही रहेगा, दूसरे प्राणी चाहे विकास की किसी भी सीढ़ी पर चढ़ जाएँ, ईश्वरत्व प्राप्त नहीं कर सकते। जैनधर्म इसे एक तरह से दामना मानता है कि प्रत्येक प्राणी

जोवन पर्यन्त दास ही बना रहेगा और ईश्वर से मिन्नते ही करता रहेगा । उसे उन मिन्नतो के बदने में कुछ सुख-सुविधाएँ तो मिल जाएँगी कि तु वह रहेगा गुलाम-का-गुलाम ही ।

जैनदर्शन अपने उत्थान-पतन का कर्ता एव अपने मुख-दुःख का प्रणेता अपने ही आत्मा को मानता है । वह ईश्वर और भक्त के बीच हमेशा स्वामी-सेवक की खाई बनाकर नहीं रखता । वह आत्मा के निज के पराक्रम का प्रज्ज्वलित करता है और निष्ठा के साथ यह कहना चाहता है कि प्रत्येक आत्मा में परमात्मा की शक्ति छिपी हुई है । आवश्यकता है कि उस शक्ति पर जो विकारों का मेल चढा हुआ है, उसे समय और साधना से धो दिया जाय तो विकास की वह उच्चता उस आत्मा को भी मिल जाएगी जिस उच्चता पर हम ईश्वर को प्रतिष्ठित मानते हैं । तब वह आत्मा भी ईश्वरत्व में परिणत हो जायगा । अर्थात् ईश्वरत्व आत्म-विकास की वह चरम उच्चता है जो सभी भव्य आत्माओं को प्राप्य है और उसी को आदर्श मान-वार समार में साधना-मार्ग की गतिशीलता बनी रहनी चाहिए । प्रत्येक आत्मा विक्रम करता हुआ ईश्वर बन सकता है और वह ईश्वर बनता है तो दूसरों पर स्वामित्व रखने के लिए नहीं किन्तु अपने ही आत्म-स्वरूप की परम उज्ज्वलता को प्रकट करने के लिए । ऐसी विचारणा अवश्य ही मनुष्य की रचनात्मक व साधनाशील प्रवृत्तियों को जागृत करती है कि वह भी ईश्वर बन सकता है । इसके विपरीत अन्य दर्शनों में रही ईश्वर की धारणा मनुष्य को शिथिल बनाती है, क्योंकि वह हमेशा भक्त ही रहेगा, दास ही रहेगा तो उमकी साधना को बल और उत्साह कहाँ में मिलेगा ?

जैनदर्शन की मूलाधार श्रमण-संस्कृति है । 'समण' शब्द प्राकृत का है । संस्कृत में इनके तीन रूप होते हैं—श्रमण, समन और समन । श्रमण शब्द "श्रमु नपसोखेदे च" धातु से बना है । इसका अर्थ है श्रम करना । इसलिए जैन-संस्कृति की मूल निष्ठा श्रम है । नियति — भाग्य के आश्रय पर बैठने वाले निश्चित रूप से अकर्मण्य बनते हैं और अपने पतन को निकट लाते हैं । यदि अरती उन्नति करना चाहते हों तो पुरुषार्थ करो, श्रम में

इतने तल्लीन हो जाओ कि किसी तरह पराश्रयी न रहकर स्वाश्रयी बन सकें और यह जो पुरुषार्थ—श्रम—करना है, किन्हीं दूसरों को दबाकर अपना मिर ऊँचा करने के लिए नहीं अथवा दूसरों का गोपण करके अपना पेट भरने के लिए नहीं बल्कि अपने आन्तरिक शत्रुओं एवं मनोविकारों को नष्ट करने के लिए। जब आत्मा में श्रमण-वृत्ति जागती है तो वह अपने आपको व्यापक हित के लिए विसर्जित कर देता है, अपना सुख करुणा और सावना में बिखेर देता है। वस्तुतः पुरुषार्थ ही मानव को प्रगति के पथ पर अग्रगामी बनाता है। जो व्यक्ति स्वावलम्बी रहता है, वही सुखी बनता है और जो पराधीन है वह चाहे सारी सुख-सामग्री के बीच खड़ा है, तो भी सुखी नहीं हो सकता। जो संस्कृति स्वतंत्रता को आधारस्तम्भ बनाकर खड़ी है, उसकी व्यापकता एवं विशालता की तुलना किसी अन्य छिछली संस्कृतियों से नहीं की जा सकती। जैन-संस्कृति का मूलाधार 'श्रमण' है।

'समण' का दूसरा शब्दार्थ होता है—समन। इसका अर्थ है प्राणिमात्र के प्रति साम्यभाव रखना। सबके सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख के समान समझकर उनके प्रति व्यवहार करना। कष्ट में पड़े हुए प्राणी को देखकर उसे कष्ट में मुक्त करना और उसकी रक्षा करना—यह सहज वृत्ति आत्मा में जागे उसे समन कहा है। इसकी सच्ची कसौटी आत्मानुभव है। यह विचार-रणा मनुष्य को आत्मिक मौन्दर्य का दर्शन कराने वाली है। क्योंकि इस विचारणा के अनुसार आचरण करने वाला कोई भी क्यों न हो, उसके मन में अशान्ति का विषैला वातावरण कभी भी पैदा नहीं होगा। जब वह किसी प्राणी को कष्ट में मुक्त करेगा या करुणा कर के सहयोग देगा तो उसके मन में एक असीम शान्ति का अनुभव होगा जो उसे सुखदायक लगेगा।

तीसरा शब्दार्थ है—शमन अर्थात् दबाना। दबाना है अपने कुविचारों एवं अपनी कुप्रवृत्तियों को ताकि मद्दृष्टियाँ पनपें और आत्मा में सुविचार पैदा हों। जिस व्यक्ति में अपने व्यवहार का ज्ञान होगा वही व्यक्ति दूसरों के प्रति सद्व्यवहार कर सकेगा और असद्व्यवहार का शमन करेगा। किन्तु जिसका अपनी वृत्तियों या प्रवृत्तियों पर नियंत्रण नहीं है, जीवन की

गतियों पर अधिकार नहीं है, वह अपने जीवन में श्रुद्ध ही बना रह जाता है। आज मनुष्यों की अधिकतर यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे अपनी ओर लक्ष्य न देकर दूसरों को नियंत्रित करने का ज्यादा ख्याल करते हैं और इसी में पतन हो रहा है। अगर अपने आप पर नियंत्रण रखने की पहले कोशिश की जाय तो स्वयं उसकी प्रवृत्तियाँ जब सन्तुलित हो जाएँगी तो सारे समाज में ही स्वयंचालित नियंत्रण व सन्तुलन होने लगेगा और वह कष्टप्रद नहीं रहेगा। जिसने अपने जीवन पर अधिकार कर लिया, भावना की दृष्टि में उसका जगत पर अधिकार हो जाता है।

तो जैन-संस्कृति तीन प्रमुख विन्दुओं पर आधारित है और वे तीन विन्दु हैं—श्रम, समता और सद्बृत्ति। श्रमण शब्द का सार इन तीनों विन्दुओं में है। एक तरह से श्रम मृत्यु है, समता शिव है और सद्बृत्ति सौन्दर्य है। ये तीनों सीढियाँ जीवन को पूर्ण बनाने वाली सीढियाँ हैं और जैन-संस्कृति जो गुणों पर आधारित है, प्रेरणा देना चाहती है कि आपका विकास आपकी मुट्ठी में है। सकल्प करो, निष्ठा से श्रम—पुरुषार्थ में जुट जाओ। आपकी विशाल शक्तियों को प्रकट होने से कोई नहीं रोक सकेगा। उन शक्तियों के प्रकाश में आपको अपनी आत्मा का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देगा और तभी आप दूसरी आत्माओं में भी समानता देख सकेंगे और एक साम्यवृत्ति जागेगी। सभी के प्रति जागी हुई समानता की भावना आपको सदैव सद्बृत्तियों की राह पर बलपूर्वक ले जायेगी और आप अनुभव करेंगे कि श्रम, समता और सद्बृत्ति की सीढियाँ आपके जीवन को ऊपर उठाती जा रही हैं।

यह है जैन-संस्कृति की विशिष्टता जिसमें गुणों का ही महत्त्व है। जिसमें गुण हैं, वह किसी भी अवस्था में हो—गरीब या धनी, साधु या गृहस्थ—पूजनीय हैं। जिसमें गुण नहीं, जो जीवन-कला को नहीं जानता, वह यदि साधुवेष भी धारण किये हुए हो तो भी वन्दनीय या पूजनीय नहीं हो सकता। छाडम्बर व्यक्ति की कमीटी नहीं, वह कमीटी तो उसके गुणावगुण है। श्रमण शब्द का अर्थ यही है कि श्रममय जीवन यापन

करना, प्राणिमात्र पर माम्यदृष्टि रखना और अपने आत्म-विकाम में बाधक रूप असत् प्रवृत्तियों का शमन करना—यही साधुत्व है।

इस सिद्धान्त की वास्तविकता को भी समझ लीजिए कि गुणों की स्थिति और गुणों का विकास भी मूलतः भावना पर ही टिका रहना है। गुणों के पक्ष में भावनाओं का ढलान और निर्माण यदि मजबूत बन जाय तो फिर उसके कार्यान्वय में कभी दुर्बलता नहीं आ सकेगी। इसलिए भावनाओं के निर्माण की पहली आवश्यकता है।

हमारे यहाँ एक कपिल केवली का वृत्तान्त आता है। कपिल एक गरीब ब्राह्मण था, इतना गरीब कि वह अपने खाने-पीने के साधन भी मुश्किल में ही जुटा पाता था। उस नगर में राजा प्रातः सर्वप्रथम दर्शन देने वाले ब्राह्मण को एक स्वर्णमुद्रा दान में देता था। तीन दिन से भूखा-प्यासा कपिल दर्शन देकर स्वर्णमुद्रा प्राप्त करने की अभिलाषा से रात को १२ बजे ही घर में निकल पड़ा। प्रहरियों ने उसे पकड़ लिया और दूसरे दिन दरबार में कपिल को पेश किया गया। कपिल ने जब सत्य-सत्य स्थिति राजा को बताई तो वह दया से द्रावित हो उठा। उसने कपिल से इच्छा हो सो माँग लेने को कहा। कपिल ने सोचने के लिए समय माँगा और वह बाग में बैठकर सोचने लगा—जब माँगना ही है तो एक क्या दस स्वर्णमुद्राएँ माँग लूँ फिर दस ही क्यों सो, हजार, लाख स्वर्ण-मुद्राएँ माँग लूँ लेकिन अब राजा ने कहा ही है तो उसका समूचा राज्य ही क्यों न माँग लूँ... किन्तु इस विचार के साथ ही उसके हृदय को धक्का लगा और उसकी भावना जागी—मैं कितना क्षुद्र हूँ, राजा की उदारता का यह बदला देना चाहता हूँ कि उसका राज्य ही छीन लूँ। वह अपनी आत्मा को धिक्कारने लगा और आत्मिक विचारणा में डूबने लगा। कुछ क्षणों में ही कपिल की भावना इतनी ऊँची चढ़ गई कि उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

कहने का अभिप्राय यह है कि भावना के निर्माण पर ही गुणों का विकास हो सकता है। भावना के धरातल पर गुण विकसित और

गुणों से आत्मा चरम विकास की ओर गतिशील हो, यही जैन दर्शन एव सस्कृति की मूल प्रेरणा है ।

मुझे आप नवयुवकों में यही कहना है कि आप जैन दर्शन एव सस्कृति को इस विशालता एव महानता को हृदयगम करे एव उस प्रकाश में अपने जीवन का निर्माण तथा विकास साधे । अभी मैंने 'समरण' शब्द का जो अर्थ व्यक्त किया, वह केवल साधुओं के लिए ही नहीं है । आप लोगों को भी साम्प्रकारों ने 'समरणोपासक' कहा है प्रार्थित् समरण-सस्कृति की उपासना करने वाले समरण-वृत्ति के अनुसार आचरण करने वाले ।

आप लोगों ने जैन भोसायटी नामक मन्था स्थापित की है तथा जैन-सस्कृति के प्रचार की वान आप सोच रहे हैं । यह अच्छा है, लेकिन इन कार्यों में अपने प्रत्येक कदम पर जैन दर्शन एव सस्कृति की मूल भावना का सदैव ध्यान रखना । जो दृष्टिकोण मैंने आपके सामने रखा है, उसके अनुसार यदि आप जैन-सस्कृति का प्रचार करते हैं तो प्रत्येक धर्म व सस्कृति के सत्याशों का न्यून ही प्रचार हो जाएगा । क्योंकि जैनदर्शन का कभी आग्रह नहीं कि उसका अपना कुछ है—वह तो सदाशयों का पुँज है, जहाँ से सभी प्रेरणा पा सकते हैं । ब्राह्मण-सस्कृति व पाश्चात्य देशों में भी अहिंसा, सत्य एव पुरु-पार्थ के जिन रनों का प्रवेश हुआ है, उसे जैन-सस्कृति की ही देन समझना चाहिए । गांधी जी ने भी अहिंसा को साधन बनाकर देश के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन को मजबूत बनाया, वह भी जैन-सस्कृति की ही विजय है ।

भगवान महावीर ने किसी प्रकार की गुटबन्दी, साम्प्रदायिकता फैलाने का कभी नहीं सोचा । उन्होंने तो श्रम, समता, सद्बृत्ति की सन्देश-वाहक श्रमण-सस्कृति का प्रचार करके गुण-पूजक सस्कृति का निर्माण किया और अनेवान्त के मिद्धान्त से भवका समन्वय करना सिखाया । इसलिए इस सस्कृति का प्रचार करना है तो समय को कभी मत भूलना । सस्कृति के विकास का मूल समय है । जैनधर्म यही शिक्षा देता है कि समय के पव पर चलकर साधा हुआ विकास ही अच्छा विकास है । जहाँ अपनी वृत्तियों पर

नियंत्रण नहीं, विलासिता व परमुग्धापेक्षी भावना है, वहाँ पर न तो विकास ही सधेगा और न प्रचार ही होगा ।

इसलिए आप नवयुवक भावना से गुणोपासक बनकर अपनी वृत्तियों व प्रवृत्तियों में सयम का प्रवेश कराएँ और उसके बाद निगूढापूर्वक महान एव विशाल जैन दर्शन तथा संस्कृति का समुचित प्रचार करें । आपको अवश्य ही सफलता मिलेगी और आप उनकी विद्यालता का परिचय दूसरों को दे सकेंगे ।

स्थान—

महावीर भवन,

चांदनी चौक, दिल्ली

(जैन सोसायटी दिल्ली के विद्यार्थियों के समक्ष दिया गया व्याख्यान)

महावीर की सर्वोच्च स्वाधीनता

महावीर और बुद्ध ने जिस गणतंत्र के स्वतंत्र वातावरण में स्वयं का विकास पाया और कोटि-कोटि जन को जीवन के स्वाधीनतापूर्ण विकास की ओर उन्मुख किया आज भारत में उमी गणतंत्र की ज्योति चमक उठी है। परतंत्रता की शृंगलाओं को काटकर जन-जन का जीवन जो आज स्वतंत्र गणतंत्र के उल्लास में परिपूरित हो उठा है, उसके ही प्रतीकस्वरूप आज चांगे और मनाए जाने वाले समारोह है। मैं भी आज के दिवस के अनुरूप ही इस विषय पर कुछ प्रकाश डालना चाहता हूँ कि महावीर का सर्वोच्च स्वाधीनता का मन्देश क्या अनुपम है और उस उत्कृष्ट स्वाधीनता की ओर हम भारतवासियों को किस उत्साहपूर्ण भावना में गति करनी चाहिए ?

महावीर ने जो कहा पहले उसे किया और इसीलिए उनकी वाणी में कर्मठता का ओज व भावना का उद्रेक दोनों हैं। हिंसा के नग्न ताडव से मन्थित एवं शोषण व अत्याचार से उन्पीडित जनता को दुःखों से मुक्त करने के लिए भगवान महावीर ने स्वयं अहिंसा धर्म की प्रव्रज्या लेकर अहिंसा की क्रान्तिवारी तथा सुवकारी आवाज उठाई। स्वार्थोन्मत्त नर-पिशाचों को प्रेम, महानुभूति, ज्ञान्ति एवं सत्याग्रह के द्वारा उन्होंने स्वाधीनता का दिव्य पथ प्रदर्शित किया।

माया-मग्न रूप पिशाचिनी के बराल जाल में फसे हुए मानवों को उन्होंने पथभ्रष्ट विलासिता के दल-दल में निकालकर निर्ग्रन्थ अपरिग्रवाद का आदर्श बनाया। उन्होंने स्वयं महनों के ऐश्वर्य व राजसुख का त्याग कर निर्ग्रन्थ साधुत्व को वरण किया तथा अपने सजीव आदर्श में स्पष्ट किया कि भौतिक पदार्थों के इच्छापूर्ण त्याग ने ही आत्मिक सुख का स्रोत फूट सकेगा। क्योंकि अर्थि (ममता) को ही उन्होंने ममस्त दुःखों का मूल माना,

चाहे वह ग्रथि जड द्रव्य-परिग्रह में ही, कुटुम्ब, परिवार में ही या काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मनोविकारों में हो—यह ग्रथि ही नित नवीन कष्टों का मृज्ज करती है। इसीलिए महावीर ने दृढता में आह्वान किया—

“पुरिसा, अत्ताण मेव अभिणिगिज्ज एव दुक्खा पमोवत्तसि ।”

—आचाराग सूत्र, अ० ३, सूत्र १६

हे पुरुषो ! आत्मा को विषयों (कामवासनाओं) की ओर जाने में रोको, क्योंकि इसी से तुम दुःखमुक्ति पा सकोगे ।

समस्त जैनदर्शन महावीर की इसी पूर्ण स्वाधीनता की उत्कृष्ट भावना पर आधारित है। परिग्रह के ममत्व को काटकर सप्रहवृत्ति का जब त्याग किया जायगा तभी कोई पूर्ण अहिंसक और पूर्ण स्वाधीन बन सकता है। ऐसी पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना ही जैनधर्म का मूलभूत ध्येय है। स्वाधीनता ही आत्मा का स्वधर्म अथवा निजी स्वरूप है। मोह, मिथात्व एव अज्ञान के बशीभूत होकर आत्मा अपने मूल स्वभाव को विस्मृत कर देती है और इसीलिए वह दासता की शृंखलाओं में जकड़ जाती है। आज गणतंत्र की स्वाधीनता पहले आत्मा की स्वाधीनता को जगाए, ताकि आत्मा की स्वाधीनता जागृत और विकसित होकर गण की स्वाधीनता को सुदृढ एवं सुचारु बना सके।

आत्मा की पूर्ण स्वाधीनता का अर्थ है— धीरे-धीरे सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों एवं भौतिक जगत में सम्बन्ध-विच्छेद करना। अन्तिम श्रेणी में शरीर भी उसके लिए एक बेड़ी है, क्योंकि वह अन्य आत्माओं के माय एकत्व प्राप्त कराने में बाधक है। पूर्ण स्वाधीनता की इच्छा रखने वाला विश्वहित के लिए अपनी देह का भी त्याग कर देता है। वह विश्व के जीवन को ही अपना मानता है, सबके सुख-दुःख में ही स्वयं के सुख-दुःख का अनुभव करता है, व्यापक चेतना में निज की चेतना को मजो देता है। एक शब्द में कहा जा सकता है कि वह अपने 'व्यष्टि को समाष्टि में' विलीन

कर देता है। वह आज की तरह अपने अधिकारों के लिये रोता नहीं, वह कार्य करना जानता है और कर्तव्यों के कठोर पथ पर कदम बढ़ाता हुआ चलना जाता है। जैसा कि गीता में भी कहा गया है—

“कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।”

फल की कामना में कोई कार्य मत करो, अपना कर्तव्य जानकर करो, तब उम निष्काम कर्म में एक आत्मिक आनन्द होगा और उसी कर्म का नभूर्ण समाज पर विशुद्ध एवं स्वस्थ प्रभाव पड़ सकेगा। कामनापूर्ण कर्म दूसरों के हृदय में विश्वास पैदा नहीं करता, क्योंकि उसमें स्वार्थ की गन्ध होती है और सिर्फ स्वार्थ, परार्थ का घातक होता है। स्वार्थ छोड़ने से परार्थ की भावना पैदा होती है और तभी आत्मिक भाव जागता है।

महावीर ने स्वाधीनता के इसी आदर्श को बताकर विश्व में फैली बड़े-छोटे, सूत-अदत, धनी-निधन आदि की विषमता एवं भौतिक शक्तियों के मिथ्याभिमान को दूर हटाकर सबको समानता के अधिकार बताए। यही कारण है कि दहाई हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी महावीर के अहिंसा और त्याग के अनुभाषों की गूँज बराबर बनी रही है। महात्मा गांधी आदि प्रभृति राष्ट्रीय नेताओं ने, कोई मन्देह नहीं कि इसी गूँज में प्रेरणा प्राप्त की एवं उनके सन्देश को उगत में पुनर्प्रतिष्ठित किया। चाहे बाह्य दृष्टि से ये नेता न जैन कहलाये, न ही महावीर के शिष्य, किन्तु अपरिग्रह और अहिंसा के सिद्धान्तों को जो सामाजिक महत्त्व इन्होंने दिलाया उसे हम उनका जैनत्व ही माने। क्योंकि आप जानते ही हैं कि जैनत्व किसी वर्ग, जाति या क्षेत्र के साथ बंधा हुआ नहीं है तथा न ही इसका नाम में ही सार्थक महत्त्व है। शुद्ध दृष्टि में तो जैनत्व वहाँ ही माना जायगा, जहाँ तदनु रूप कार्य का अस्तित्व है। अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध जो स्वातंत्र्य-सघर्ष आज तक किया गया, उनमें अहिंसा और त्याग को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है तथा उसी भावना का परिणाम है कि आज भारत स्वतंत्र से गणतंत्र भी हो रहा है। तो जिस पथ पर चलकर इतना विकास सम्पादित किया जा सका है, महावीर वाणी कहती है कि इसी पथ पर आगे बढ़ो, ताकि आत्मविकास

की मन्वी स्वतंत्रता व उसके निर्माण प्रकाश में समूह की गणतंत्रता प्राप्त की जा सके।

भारत को स्वतंत्र हुए दो वर्ष बीत चुके और आज वह गणतंत्र भी बन रहा है। अब भारत किसी व्यक्ति विशेष का न होकर समष्टि का बन गया है। जनता के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि व राष्ट्रपति ही देश का प्रशासन चलाएँगे। जनता को नागरिकता के पूर्ण अधिकार प्राप्त होंगे। इस तरह राजनीतिक दृष्टिकोण में जनता स्वतंत्र हो गई है।

किन्तु जब तक जनता में सभी दृष्टियों से स्वावलम्बन पैदा नहीं होगा तब तक स्वाधीनता नहीं आएगी। चाहे तो निर्वाह के साधन हों या मानसिक विकारों का क्षेत्र हो, परतंत्रता को मिटाने पर ही जीवन में नया उत्साह भर सकेगा। आज जो यह यात्रिक प्रगति सामाजिक न्याय के बिना बेगोक-टोक की जा रही है, वह न तो योजनाबद्ध कही जा सकती है, न ही समाज के लिए सुखदायक। इस व्यवस्था में आर्थिक विषमता बढ़ रही है और शापण व अन्याय भी उसी परिमाण में तीव्रतर हो रहा है। क्योंकि एक ओर तो लाभार्थी कमाने वाला शापक समाज अधिक समृद्ध होता हुआ विनासिता के रंग में डूब रहा है तो दूसरी ओर शापण व अन्याय में उत्पीड़ित वर्ग कष्टों में विचलित होकर विकृति व हिंसा के मार्ग पर कदम बढ़ा रहा है। दोनों प्रकार में सारा समाज अनैतिकता की राह पर आगे बढ़ रहा है। त्यागमय संस्कृति के क्षीण होने में वैभव की भूख बलवती हो रही है, जो समाज की स्वस्थ प्रगति के लिए शुभ लक्षण नहीं है। इसलिए सबसे पहले इस दूषित व्यवस्था में सुधार पाए बिना आप में सच्चा स्वावलम्बन नहीं फैल सकता है।

ऐसी अवस्था में आज के युवक पर इसकी महान जिम्मेदारी है, किन्तु उनकी भी मन्तोषजनक स्थिति नहीं है। आज के युवक के पास बोलने के लिए जिह्वा है, शब्दकोश है किन्तु हाथों के लिए कर्तव्यपरायणता और पांवों के लिए कर्मठता नहीं है। परिणाम यह है कि युवक आज के राज-समाज की आलोचना तो करता है किन्तु उसे सुदृढता में बदल डालने के लिए त्यागमय जोश में आने का कोई बड़ा कटिबद्ध नहीं कर पाता है। विचार

और वाणी जब तक कर्म में परिणत नहीं हो सके, वे अपने आप में प्रभाव-शाली नहीं होते। युवकों को यह सोचना चाहिए कि वर्तमान परिस्थितियों में वे समाज की गतिशीलता में क्या और किस प्रकार योग दे सकते हैं कि सर्वोच्च स्वाधीनता की ओर हमारे कदम बढ़ते चले जाएँ ?

आज मैं राष्ट्र के विभिन्न राजनीतिक दलों की कार्यप्रणाली पर भी दृष्टिपात करता हूँ तो उसमें वाग्विलास ही दिखाई देता है। वजाय इसके कि उनकी कार्यप्रणाली में नवनिर्माण की रचनात्मक प्रवृत्ति दिखाई दे। भारत के एक चिन्तनशील कवि जगन्नाथ ने जो यह अन्योक्ति कही है, उससे ऐसा प्रतिभास होना है कि वह संभवतः वर्तमान परिस्थिति को ही दृष्टिगत करके कही गई हो—

पुरा सरासि मानसे विकचसार सालिस्खल-
 पराग मुरभिकृते यस्य यात वयः ।
 म पलवल जलेऽधुनालितदनेक भेकाकुले,
 मरालकुलनायक कथय रे कथ वर्तताम् ।

—भामिनीविलास

अर्थात् कमलों से आन्ध्रादित, भरते हुए पराग से सुगन्धित एव मधु से भी मधुर मानसरोवर के शीतल जल और चमकते हुए बहुमूल्य मुक्ता का पान करना हुआ सुन्दर-सुन्दर कमलों पर झींड़ा करके अपना जीवन-यापन करने वाले राजहंस को ऐसी छोटी-सी तलैया पर बैठा देखे, जिस तलैया में पानी तो थोड़ा हो और मेटक अधिक हों, जो राजहंस के अन्दर चोच डालने ही पृथक्-पृथक् पानी को गदला बना डालते हो और राजहंस को पानी पीने में वचन रख देते हो तो ऐसी दुःखावस्था को देखकर कवि हृदय बोल उठता है कि हे मानसरोवर के आदिवामी राजहंस, तुम्हारी यह दुःखद दशा कैसे ?

बन्धुओं ! जरा ध्यान से भारत के गौरवपूर्ण अतीत पर नजर डालिए कि वह हमेशा मानसरोवर पर रहा है और यहाँ ऋषभ, शान्तिनाथ, राम, कृष्ण, महा-

वीर जैसे राजहंस होते रहे हैं। जिन्होंने सदैव मत्सिद्धान्तो रूपी मुक्ताम्रों का चयन किया और उन्हें ममग्र भारतवामियों को भेंट किया। फिर आज यह दुर्भाग्य पयो जो मानसरोवर के राजहंस ओ श्री व क नहृपूर्ण राजनीति की गरी तर्नया पर बैठे हैं और जनता को भेदक बना रहे है। गणतंत्र दिवस पर महावीर का त्यागमय सन्देश हृदय में ग्रहण कीजिए, तत्र आप भलीभांति अनुभव कर सकेंगे कि आज का युग ईर्ष्या, विग्रह एव आलोचना का नहीं, प्रेम, सहानुभूति एव कर्तव्यधर्मों के पालन करने का है। अब तक राजनीतिक रूप से ही सही, लेकिन जनता के जो हाथ-पाँव बंधे हुए थे, वे मुक्त हो गए हैं और अबसर आया है कि अपने अथक कार्यों से देश की त्यागमय संस्कृति का ध्वन प्रकाश फिर से विश्व में फैला दे। जिस विश्वप्रेम का पाठ ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने पढाया था उसी पाठ को वर्तमान समय में निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति के सत जनता को पढा रहे है और गांधीजी सखे पुरुषों ने विश्वप्रेम को अहिंसा के नाम से व्यवहारिक व राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रसारित किया है, जो कि आज सबके सन्मुख है और मेरा भी आदेश है कि मानव, मानव की आत्मा के साथ शुद्ध अहिंसामय प्रेम स्थापित करें, अन्य सभी कर्मजनित सकुचिन दायरों से ऊपर शुद्ध मानवता के अनुभाव का पूर्ण विकास हो। विचार-भिन्नता होने पर भी कार्य-क्षेत्र में भिन्नता नहीं होनी चाहिए, मनभेद मनभेद को पैदा नहीं करे। जो राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई है, उसका उपयोग महावीर की सर्वोच्च स्वाधीनता के लिए होना चाहिए। इसी में देश का गौरव है और गौरव है शुद्ध कर्मण्य-शक्ति का।

महावीर ने दश धर्मों का वर्णन किया है, उसमें राष्ट्रधर्म का भी उल्लेख है। राष्ट्र अपने आप में भौगोलिक सीमाओं से बंधा हुआ धर्म एव संस्कृति का एक बड़ा घटक होता है और उस सीमा तक कि वह धर्म विश्व-प्रेम पर आघात न करे। राष्ट्र के प्रति निष्ठा एव भक्ति भी पूर्णतया आवश्यक है। आज वही निष्ठा एव भक्ति भारतीयों के हृदयों में पैदा होनी चाहिए कि देश का सम्मान बड़े। जापान देश की एक छोटी-सी घटना बनाई जाती

हैं कि वहाँ एक भारतीय अपनी इच्छा के फल न मिलने के कारण जापान के प्रति निन्दात्मक बातें कह रहा था, जिसे एक गरीब जापानी ने सुन लिया। वह बड़ा विस्फुब्ध हुआ और कही में खोज-खाजकर वह फलो की टोकरी ले आया और उसने उस भारतीय को दे दी। भारतीय जब उसे दाम देने लगा तो उसने बड़ा मार्मिक जवाब दिया—महाशय, मुझे पैसा नहीं चाहिए, देश का मान हमारे लिए बड़ा है, जन्मभूमि का सम्मान हमें अपने जीवन से भी अधिक प्यारा है। आपसे इन फलों की मैं यही कीमत माँगता हूँ कि आप अपने देश में जाकर मेरे देश जापान की किसी प्रकार निन्दा न करें।

राष्ट्र के प्रति व्यक्त किया जाने वाला यह सम्मान देशवासियों में गौरव का भाव उत्पन्न करता है और यही गौरव का भाव सकटों में धैर्य, संभव में नम्रता तथा कर्म में कर्मठता को बनाए रखता है। जिन्हें अपनी धात्मा का गौरव होगा, वे कभी उसे पतित नहीं होने देंगे, चाहे कितनी ही विव्यतापूर्ण परिस्थितियाँ उनके सामने आकर खड़ी हो जाएँ ! अपनी धात्मा का गौरव बनाइए, उसे निभाइए और अपने साथियों के गौरव की रक्षा कीजिए, फिर देखिए समाज और राष्ट्र का गौरव बनेगा और वह दिव्य के गौरव में बदलता जाएगा। छोटे से लेकर समूहों तक के जीवन विकास की यही कहानी है।

आज आप लोग भी स्वतंत्रता के प्रतीक चक्रयुक्त तिरंगे झंडे का अभिवादन कर रहे हैं, स्वतंत्रता पर भाषण-अभिभाषण हो रहे हैं किन्तु इन बाह्य क्रियाओं मात्र ने स्वतंत्रता का रक्षण होने वाला नहीं है। इसके लिए तो अपने स्वार्थों का बलिदान चाहिए और चाहिए है वैसी कर्मठता जो त्याग की भूमि पर नुहदना से गति कर रही हो। अगर ऐसा नहीं हुआ तो क्या यह राजनीतिक स्वतंत्रता टिक सकेगी और क्या महावीर की सर्वोच्च स्वाधीनता की स्थापना की जा सकेगी ? इसलिए बन्धुओं, गणतंत्र दिवस पर प्रतिज्ञा कीजिए कि आप सर्वोच्च स्वाधीनता की अन्तिम सीमा तक गति करते ही रहेंगे। ॐ शान्ति।

जैन अहिंसा और उत्कृष्ट समानता

“जय जगत् शिरोमणी, हु सेवक ने तू घणी ”

प्रार्थना मे कहा गया है कि हे जगत् के शिरोमणि, हे प्रभु, तुम्हारी जय हो । मैं तुम्हारा सेवक हूँ और तुम मेरे स्वामी हो । मैं आपसे पूछूँ कि क्या हमारे कहने से ही परमात्मा की जय हो और हमारे न कहने मे उसकी जय नहीं हो ? आपको यह प्रश्न कुछ अटपटा लगे किन्तु उतर स्पष्ट है । हमारे जय कहने या न कहने का परमात्मपद पर कोई असर नहीं पडता और न ही जिस श्रेणी मे सिद्ध विराजमान है, उनका हम सांसारिक प्राणियो से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध है । यह जय तो हम अपने आत्मिक-जागरण के लिए कहते है कि उनका प्रदर्शित पथ हमारे अन्तर् मे रम सके और हम उनकी जय भी इसलिए कहते है कि वे पूर्ण पुरुष है । अपूर्ण की जय नहीं कही जाती । पूर्ण विजेता ही जयवान् होता है । जिस तरह कुम्हार का कच्चा घडा या रसोई मे रखा कच्चा सामान तृपा व धुवा सन्तुष्टि मे सहायक न होकर पक्का घडा व पक्वान्न ही वैसे हो सकते है ।

तो उस प्रभु की जय इसलिए कहते है कि हम उसके प्रति वफादार बन सके । सेवक अगर स्वामी के प्रति वफादार न बन सके तो फिर उमका सेवकत्व ही क्या ? फिर परमात्मा का सेवक होना तो कोई छोटी बात नहीं है । साधारण स्वामी को तो अप्रत्यक्ष तरीके से छला भी जा सकता है लेकिन त्रिकाल ज्ञाता सर्वज्ञ प्रभु के प्रति वफादारी का अर्थ है कि अपने जीवन मे एक निश्चिन्त विधि से निश्चल साधना की जाय और इस साधना का प्रमुख रूप है कि परमात्मा के सभी सेवको की इस मृष्टि मे हम समानता की स्थिति पैदा करें । सभी परमात्मा के सेवक है—फिर उनके बीच

भेदभाव और विषमता क्या ? एक सेठ का नौकर भी जब सेवा का कार्य करता है तो पुरस्कार पाता है और काम बिगाडता है तो तिरस्कृत होता है । फिर हम भी परमात्मा के सेवक बनकर यदि सृष्टि का सुधार करेंगे तो ऊँचे चढ़ते जाएँगे तथा अपने साथियों का अकल्याण करेंगे पहले तो हमारा ही पतन होगा ?

अतः परमात्मा की जय बोलते हुए इस सृष्टि में उसके प्रति वफादार रहने का एक ही मार्ग है और वह है अहिंसा का मार्ग । इसीलिए जैनधर्म का हृदय है अहिंसा—“अहिंसा परमोधर्म ।”

जैन सृष्टि में रहते हुए सृष्टि को सुधारने वाला जो यह अहिंसा का निदान्त है, वह क्या है ? यह गभीरता से सोचने और समझने लायक है । अहिंसा के पथ पर जो भी चला, उसने अपने विकास की चरम श्रेणी प्राप्त कर ली । आनन्द देकर जो आनन्द मिलता है, उसी के प्रकाशमान स्तम्भ अहिंसा पर हम यहाँ विचार करेंगे ।

जैनधर्म में अहिंसा का जो स्वरूप-दर्शन तथा निरूपण किया गया है, वह सर्वाधिक सूक्ष्म है । यो तो अहिंसा को मान्यता सभी धर्म देते हैं किन्तु नाथ-ही-साथ “धार्मिकी हिंसा हिंसा न भवति” का तर्क देते हैं अथवा माधुसूतो को भी सकट में मासभक्षण का निर्देश करते हैं । वहाँ जैनधर्म की धात्मा अहिंसा है । “जय चरे, जय चिट्ठे ..” हर कार्य इतनी यतना से होना चाहिए कि वह किसी भी प्राणी को तनिक-सा भी क्लेश देने वाला नहीं हो ।

वैसे ‘अहिंसा’ शब्द स्वीकारात्मक न होकर नकारात्मक है । जहाँ हिंसा नहीं, वहाँ अहिंसा । हिंसा की हमारे यहाँ व्याख्या दी गई है—“प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोषण हिंसा”—प्रमाद के योग से किसी भी प्राण को हनना या क्लेश पहुँचाना हिंसा है । वैसे यह व्याख्या बहुत सीधी है, किन्तु मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि जैनधर्म में अहिंसा के न सिर्फ इस नकारात्मक पहलू पर गभीर प्रकाश डाला गया है वरन् अहिंसा के स्वीकारात्मक पहलू का सविस्तार अध्ययन किया गया है ।

किसी भी प्राण को क्लेशित करने का नाम हिंसा कहा गया है तो प्रश्न पैदा होता है कि प्राण क्या ? जीववारी की जो सजीवता है वही उसका प्राण है । प्राण का धारक होने से ही वह प्राणी कहलाता है । प्राण १० प्रकार के बतलाये गए हैं—

१. एकेन्द्रिय बल प्राण
२. वेदन्द्रिय बल प्राण
३. तेजन्द्रिय बल प्राण
४. चौदन्द्रिय बल प्राण
५. पचेन्द्रिय बल प्राण
६. मन-बल प्राण
७. वचन-बल प्राण
८. काया-बल प्राण
९. श्वासोच्छ्वास बल प्राण
१०. आयुष्य बल प्राण

अर्थात् प्राणी एकेन्द्रिय (पृथ्वी आदि) से लेकर पचेन्द्रिय (पशु, मनुष्य आदि) तक अपनी इन्द्रिय धारकता से होते हैं । इन्हीं प्राणियों में काया सूक्ष्म या स्थूल सबके होती है तथा मन और वचन की शक्ति किन्हीं प्राणियों में होती है और किन्हीं में नहीं होती । श्वासोच्छ्वास और आयुष्य का सम्बन्ध सभी प्राणियों से होता है । तो अब देखना यह है कि प्राणों को क्लेशित करने का क्षेत्र कितना लम्बा-चौड़ा है और हिंसा में बचने का प्रयास करना कितनी साधना का काम होता है ?

पहली बात तो यह कि प्राण सिर्फ मनुष्य या पशु-पक्षियों में ही वर्तमान नहीं है, जिनका खयाल आसानी से रखा जा सकता है, किन्तु छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े और वनस्पति, पानी आदि के लघुकाय जीवों के भी प्राणों की यदि किसी प्रकार से हमारी त्रियाग्रों द्वारा कष्ट पहुँचता है तो वह हिंसा है । किसी भी प्राणी को मारना, काटना या मारकर मांस सेवन करना—ये तो बहुत मोटी बातें हैं और हिंसा की दृष्टि में इसे सब जन्मी ही

पहिचान जाते हैं किन्तु छोटे-छोटे प्राणियों को न मारना या फ्लेशित न करना विवेक का काम है।

इसके बाद हिंसा की व्याख्या में न सिर्फ प्राणियों की काया को कष्ट देना ही सम्मिलित है बरिक्त उनके मन, वचन, स्वासोच्छ्वास व आयुष्य तक का व्याघात करना या कम करना भी हिंसक कार्यों में गभित है। यह बहुत बारीक बात है कि किसी के मन और उसकी चारणी पर भी अपने क्रियाकलापों द्वारा किसी तरह का व्याघात न पहुँचाया जाए।

हिंसा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि अगर इससे पूरे तौर पर बचना चाहे तो सासारिक जीवन के निर्वाह में कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाएँगी। इसलिए जैनधर्म में इसके लिए दो प्रकार के धर्मों का उल्लेख किया है कि साधु तो सभी प्रकार की हिंसा से अपने आपको बचाए किन्तु श्रावक (गृहस्थ) को भी कम-से-कम स्थूल हिंसा के कार्यों से तो अलग रहना ही चाहिए। जहाँ साधु के पहले महाव्रत में सभी प्रकार की हिंसा का त्याग होता है, वहाँ श्रावक के पहले अगुव्रत के निम्न अतिचार बताये गये हैं,—१ क्रोधवश किसी भी त्रस जीव (एकेन्द्रिय के सिवाय सभी त्रस जीव होते हैं) को कठिनातापूर्वक बाँधा हो, २ उसे घायल किया हो, ३ उनका चर्म-छेदन किया हो, ४ उन पर अधिक भार लादा हो, ५ उनका अन्न-पानी छुड़ाया हो। इस प्रकार के हिंसक कार्य करना श्रावक के लिए वर्जित है तथा इनमें से कोई कार्य उसमें क्रोधवश, प्रमादवश या अन्य रीति में हो जाए तो उसके लिए उसे प्रतिश्रमण के रूप में प्रायश्चित्त करना होता है।

इसमें यह स्पष्ट है कि एक जैन श्रावक को भी कम-से-कम अनावश्यक हिंसा नहीं करनी चाहिए और धीरे-धीरे उससे भी अपने आपको बचाते हुए साधु-धर्म की ओर उन्मुख होना चाहिए। एक सद्गृहस्थ के नाते उसके पास जितने भी पशु या नौकर-चाकर हों, इन अतिचारों में स्पष्ट हो जाता है कि उनके साथ उनका कितना सहृदय व्यवहार होना चाहिए। क्योंकि श्रावक को अपने मन, वचन व काया से भी किसी प्रकार उनके प्राणों को फ्लेशित नहीं करना चाहिए। आप इस बात पर ध्यान दें कि अहिंसा साधना की

इस प्राथमिक श्रेणी का भी पालन आपको पूरे तौर पर करना हो तो आप में मानवता का कितना ऊँचा दृष्टिकोण विकसित होना चाहिए।

इसके अलावा यह जो कुछ मैंने अभी बताया है, वह तो अहिंसा का नकारात्मक पहलू मात्र है कि हिंसा मत करो, किन्तु जैनधर्म में इसके स्वीकारात्मक पहलू का भी विशद वर्णन है।

अहिंसा का स्वीकारात्मक पहलू है कि प्राणों का रक्षण करो। पहली सीढ़ी तो यह सही है कि अपनी ओर से किन्हीं भी प्राणों को कष्ट मत दो। लेकिन क्या ससार और समाज में रहते हुए विवेकशील प्राणियों का इस नकारात्मक रुख से ही अपना कर्तव्य समाप्त हो जाता है? नहीं होता, क्योंकि विभिन्न इन्द्रियों के प्राणियों में विवेक, सामर्थ्य वा शक्ति की दृष्टि से काफी विभेद होता है और कम विवेक व सामर्थ्य के प्राणियों को अधिक विवेक व सामर्थ्य के प्राणियों की सहायता की अपेक्षा होती है तथा समान विवेक व सामर्थ्य के प्राणियों को भी अपने जीवन-संरक्षण हेतु परस्पर सहायता की भी अपेक्षा होती है। आपके सासारिक जीवन को ही देखिए—एक ही व्यक्ति अपने जीवन-निर्वाह के सारे साधन स्वयं नहीं रच सकता है। किसान धान पैदा करता है तो कोई उसे इधर-से-उधर पहुँचाता है और फिर वह रसोईघर में विविध क्रियाओं द्वारा खाद्य-योग्य बनता है। इसी प्रकार अन्य प्रदार्थों की भी अवस्था है। तात्पर्य यह कि समाज में सबके पारस्परिक सहयोग से प्रत्येक के जीवन का अनुपालन व संरक्षण होता है।

तो इसी दृष्टिकोण की दारीकियों पर अहिंसा का स्वीकारात्मक पहलू जाता है कि प्राणियों को उनके जीवन के अनुपालन व संरक्षण में सद्भाव से सहायता करो, जीगो और जीने दो। इस पहलू से सहानुभूति, दया, करुणा, सहयोग आदि सद्गुणों की जीवन में पुष्टि होती है और इसी पुष्टि से मानवता का विकास होता है। हिंसा के निवृत्ति-धर्म से भी अहिंसा का यह प्रवृत्ति-धर्म अधिक ऊँचा माना गया है। एक व्यक्ति भूठ नहीं बोलता है, उसमें ही उसका काम पूरा नहीं हो जाता। यह तो उसका नकारात्मक काम हुआ किन्तु सत्य की साधना उसकी स्वीकारात्मक तब होगी जबकि

वह झूठ न बोलने और सत्य बोलने । दोनों पहलुओं का पालन जरूरी होता है । अगर कोई झूठ तो न बोलें लेकिन सत्य बोलने का अवसर आए और मौन रह जाए तो उसको आप क्या कहेंगे ? सत्य के प्रतिपादन के समय कोई मौन रखे तो वह अव्यक्त तौर पर ही सही किन्तु असत्य का प्रतिपादन करने वाला ही कहलायगा । उसी प्रकार हिंसा से तो कोई निवृत्ति ले ले किन्तु अहिंसा में प्रवृत्ति न करे, जीवन-संरक्षण की ओर लक्ष्य न बनाए तो उसे भी अहिंसक नहीं कहा जा सकता । अहिंसा की प्रवृत्ति ही अहिंसा के ममुज्ज्वल स्वरूप को, विशेष रूप से सामाजिक जीवन में प्रकाशित कर सकती है । एक ओर अहिंसा हिंसा से निवृत्ति करना सिखाती है तो दूसरी ओर अन्याय, अत्याचार, शोषण, दमन और दुर्व्यवहार का प्रतिरोध करके प्रसहाय प्राणों की रक्षा पर बल देती है और पहले से भी दूसरा कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है । क्योंकि प्राणों को आप न मरने दें—यह ठीक है लेकिन उनके अस्तित्व में यदि उन्हें सुखपूर्ण बनाने की श्रद्धा न बनाई जा सके तो वह अहिंसा का पालन होना नहीं कहलाएगा । प्राणी बचे, उनकी रक्षा हो और उनके जीवन के समुन्नत बनने की स्थिति बन सके—ये सभी कर्तव्य अहिंसक के होने चाहिए ।

अब अहिंसा के इन दोनों पहलुओं के महत्त्व पर इस दृष्टि से विचार कीजिए कि किसी भी प्राण को कष्ट न दिया जाए, बल्कि उन प्राणों को जहाँ तक बन सके अपना संरक्षण भी दिया जाए । अहिंसा की इस साधना में सा प्रक के मन, वचन एवं काया तीनों शुद्धिपूर्वक नियोजित होने चाहिए । भे किसी के मन, वचन व काया को कष्ट न दें—यह तो हुई एक बात, लेकिन मेरा जो अहिंसा धर्म का पालन हो, वह मेरे शुद्ध मन द्वारा, वचन द्वारा तथा कर्म के द्वारा पूर्ण होना चाहिए । कोई काम दिखावे के लिए कहा जा सकता है या किया जा सकता है लेकिन अहिंसा की साधना दिखावे या लोक-व्यवहार के ऊपर अन्तर्हृदय में पैठनी चाहिए क्योंकि अन्तर् की प्रेरणा व सद्भावना ने जो वचन कहा जाएगा या कर्म किया जाएगा, उसमें वास्तविकता होगी तथा वही कार्य मन, वचन व काया की शुद्धि पर आधारित होगा ।

अतः अहिंसा की आराधना के लिए मन, वाणी और कर्म तीनों में एक साथ शुद्धि की आवश्यकता है, या यों कहें कि इन तीनों में अहिंसा वृत्ति के महज प्रवेश पर ही अहिंसा धर्म का मुच्चारण रूप से पालन किया जा सकता है। कई भाइयों का जो यह कथन है कि शरीर से मारने पर ही हिंसा होती है और इसलिए वे कहते हैं कि—

मन जाए तो जाने दे, मत जाने दे शरीर ।

न खेंचेगा कमान तो, फंसे लगेगा तीर ॥

किन्तु जैसा ऊपर बताया जा चुका है—यह कथन केवल एकांगी व बाह्य दृष्टिकोण को प्रकट करता है। जैन शास्त्रों का वचन है कि शरीर की हिंसा से भी मन की हिंसा बड़ी होती है, क्योंकि शारीरिक हिंसा का आधार भी मानसिक हिंसा ही होती है। इसके लिए शास्त्रों में एक उदाहरण आया है कि मानसिक हिंसा से आत्मा का कितना पतन हो सकता है।

उदाहरण यह है कि समुद्र में एक विशालकाय मगरमच्छ था। उसका मुँह जब खुला रहता तो छोटे-बड़े कई मच्छ उसमें घुसते व निकलते रहते थे। उस समय उस विशालकाय मगरमच्छ की आँख पर बैठा हुआ एक तन्दुल मच्छ जो चावल के दाने के बराबर होता है—सोचता है कि इस मगरमच्छ के मुख में कितने छोटे-बड़े मच्छ स्वतः ही जा रहे हैं किन्तु यह कितना मूर्ख है कि उन्हें निगल नहीं जाता। यदि मेरी ऐसी दशा होती तो मैं इन सब मच्छों को किसी भी हालत में अपने मुँह से बाहर नहीं निकलने देता। इन्हीं सकल्प-विकल्पों में बहता हुआ तन्दुल मच्छ वहाँ उसी समय मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, तो कहा गया है कि उसकी गति सातवीं नरक में होती है। अभिप्राय यह है कि केवल मानसिक हिंसा के कारण उन छोटे से प्राणी की भी ऐसी गति हुई। इसी प्रकार वाणी का घाव भी तनवार का घाव माना गया है। अतः आप लोगों को गभीर चिन्तन करना चाहिए कि अपने आपको अहिंसा धर्म के साधक कहने के पहले अपने जीवन की कितनी अद्भुत तैयारी होनी चाहिए।

अपने आर्यदेश भारत और उसमें भी राजस्थान, मध्यभारत आदि कितने ही अन्य प्रदेश हैं जहाँ जैन-संस्कारों के कारण काफी भाइयों में इतनी दयालुता मिलेगी कि उनको कहा जाय कि अमुक धनराशि ले लो और वकरो को अपने हाथों से काट दो तो सभावना है कि वे ऐसा न कर सकेंगे, बल्कि छोटे-छोटे प्राणियों की भी वे कष्टों से रक्षा करते हैं। इस प्रकार शारीरिक हिंसा की तरफ उनको अपने मातृसंस्कार, कुल परम्परा आदि की वजह से घृणा है किन्तु जरा मानसिक एवं वाचिक हिंसा की तरह भी वे अपना ध्यान बढ़ाएँ तो अहिंसा के आन्तरिक आनन्द का उनमें आभास बढ़ सकेगा। जो भाई छोटे-छोटे जीवों को नहीं मारने की प्रवृत्ति मात्र से अपने को कृतकृत्य समझते हैं, जिससे मालूम होता है कि मनुष्य की तरफ उनका ध्यान ही नहीं जाता।

आज के आर्थिक युग में जिस प्रकार से मनुष्य का शोषण और दमन होता है, वह भी एक दर्दनाक परिस्थिति है। अपने साथी मनुष्य का दिल दुखाना, उसके प्रति कटु व्यवहार करना कटुवचन कहना एवं मन से ईर्ष्या, द्वेष एवं प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र में कड़ियों के प्रति बुरा चिन्तन करना, ये सब आज की ऐसी बुराइयाँ हैं जिनको अहिंसा के साधक का ध्यान सबसे पहले जाना चाहिए। अहिंसा के जो ये मार्ग हैं, उन पर चलकर ही आत्मा का विकास भली-भाँति साधा जा सकता है।

अब कल्पना कीजिए ऐसे समाज और विश्व की, जिसमें व्यक्ति यदि अहिंसा की साधना जैनदृष्टि जो कि मानवीय दृष्टि है, के अनुसार करने लगे और उसी रीति में अपने पारस्परिक व्यवहार को ढालें तो संभव है कि यहाँ शोषण और दमन रह जाएँ, व्यक्तियों और राष्ट्रों के बीच शत्रुता एवं कटुता रह जाए ? और इसका उत्तर है कि यह संभव नहीं है। अहिंसा का पथ राजपथ है जिस पर चलकर इहलोक और परलोक दोनों का भली-भाँति निर्माण किया जा सकता है।

अहिंसा का साधन वीरो का है। कायर तो सबसे पहले मानसिक हिंसा से ही अधिक पीड़ित है। ऐसा व्यक्ति मानसिक हिंसा से दूसरों को तो गिरा

सके या नहीं, किन्तु अपने आपको तो बहुत गहरे अर्थ ही गिरा डालता है। साधु और श्रावक के भी अहिंसा व्रतों का जो ऊपर उल्लेख किया गया है उनका भी उद्देश्य यही है कि मन, वाणी और काया से अद्विधा अहिंसा के दोनों पहलुओं का पालन किया जा सके।

इसलिए मेरा आप लोगों से कहना है कि यदि आप अपने आपको परमात्मा का वफादार सेवक बनाना चाहते हैं और इस सृष्टि में उत्कृष्ट समानता का वातावरण बनाना चाहते हैं तो समग्र रूप से अहिंसा का पालन कीजिए। जैनदृष्टि सभी आत्माओं में समानता की मान्यता रखती है क्योंकि मूल रूप में सबमें कोई भेद नहीं है—विकास की न्यूनता अधिकता दूसरी बात है। तो आत्माओं की यह समानता अहिंसा की साधना से प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त की जा सकती है। अहिंसा ही वह सशक्त साधन है जिसके द्वारा आत्म-समानता यानी परमात्मा-वृत्ति के साध्य को साधा जा सकता है।

स्थान

अलवर (राजस्थान),

७-८-१९५१

स्थाद्वाद : सत्य का साक्षात्कार

आज आप लोगो के बीच यूरोप खड मे स्थित हगरी देश के प्रमुख विद्वान् डॉ० फॉलक्स वैली भी उपस्थित हैं। वैसे ये बौद्धधर्म के विशेषज्ञ हैं किन्तु जैन दर्शन के प्रति भी इनका अति आकर्षण व आदर है और उसी प्रेरणा से ये आज जैन-सिद्धान्तो की विशेष जानकारी के लिए यहाँ आये हुए हैं।

जैनधर्म आत्म-विजेताओ का महान् धर्म है। जिन्होंने रागद्वेष आदि अपने आन्तरिक विकारो पर विजय प्राप्त करके सयम एव साधना द्वारा निर्मल ज्ञान प्राप्त कर अपनी आत्मा को उत्थान के मार्ग पर अग्रसर किया है, उन्हें हमारे यहाँ 'जिन' (विजेता) कहा गया है तथा इन विजेताओ द्वारा प्रेरित दर्शन का नामाकृत जैन-दर्शन के नाम से हुआ। अतः यह दर्शन किसी व्यक्ति-विशेष, वर्ग विशेष या शास्त्र-विशेष की उपज नहीं, बल्कि इसका विकास उन आत्माओ द्वारा हुआ है, जिन्होंने सारे सासारिक (जातीय, देशीय सामाजिक, वर्गीय आदि) भेदभावो व यहाँ तक कि स्वपर को भी विमर्जित कर अपने जीवन को सत्य के लिए होम दिया। यही कारण है कि इसका यह स्वरूप इसकी महान् आध्यात्मिकता व व्यापक विश्व दन्धुत्व का प्रतीक है।

जैनों का प्रधान साध्य सत्य का साक्षात्कार करना है, जिसके प्रकाश मे जीवन का कण-कण आलोकित होकर चरम विकास को प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए जैनदर्शन के सभी सिद्धान्त साधन रूप बनकर उक्त साध्य की ओर गमनशील बनाने हैं। इसमे भौतिकवादी दृष्टिकोण को प्रमुखता न देकर आध्यात्मिकता को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है, क्योंकि समस्त प्राणी समूह की सेवा के लिए यह अनिवार्य है कि सासारिक प्रलो-भन्तो को छोड़कर आत्मवृत्तियो का शुद्धिकरण किया जाय, जिसके बिना

इस अनवरत सघर्षशील जगत् के बीच स्व-पर-कल्याण सम्पादित नहीं किया जा सकता। संक्षेप में जैन-दर्शन विश्वशान्ति के साथ-साथ व्यक्तिशान्ति का भी मार्ग प्रशस्त करता है।

तो मैं यहाँ पर जैन दर्शन की मौलिक देन स्याद्वाद या प्रनेकान्तवाद पर कुछ विशेष रोशनी डालना चाहता हूँ। जिस प्रकार सत्य के साक्षात्कार में हमारी अहिंसा स्वार्थ-सघर्षों को सुलभाती हुई आगे बढ़ती है, उसी प्रकार यह स्याद्वाद जगत् के वैचारिक सघर्षों की अनोखी सुलभन प्रस्तुत करता है। आचार में अहिंसा और विचार में स्याद्वाद—यह जैनदर्शन की सर्वोपरि मौलिकता कही है। स्याद्वाद को दूसरे शब्दों में वाणी व विचार की अहिंसा के नाम से भी पुकारा जा सकता है।

स्याद्वाद जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों में से एक है। किसी भी वस्तु या तत्त्व के सत्य स्वरूप को समझने के लिए हमें इसी सिद्धान्त का आश्रय लेना होगा। एक ही वस्तु या तत्त्व को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है और इसलिए उसमें विभिन्न पक्ष भी हो जाते हैं। अतः उनके सारे पक्षों व दृष्टिकोणों को विभेद की नहीं, बल्कि समन्वय की दृष्टि से समझकर उसकी यथार्थ सत्यता का दर्शन करना इस सिद्धान्त के गहन चिन्तन के आधार पर ही संभव हो सकता है। आज के विज्ञान ने भी अब तो सिद्ध कर दिया है कि एक ही वस्तु की कई बाजुएँ हो सकती हैं और उसमें भी ऐसी बाजुएँ अधिक होती हैं, जिनका स्वरूप अधिकतर प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष ही रहता है। अतः इन सारे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष पक्षों को समझने के बाद ही किसी भी वस्तु के सत्य स्वरूप का अनुभव किया जा सकता है।

इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु-विशेष के एक ही पक्ष या दृष्टिकोण को उसका सर्वांग स्वरूप समझकर उसे सत्य के नाम से पुकारना मिथ्यावाद या दुराग्रह का कारण बन जाता है। विभिन्न पक्षों या दृष्टिकोणों के प्रकाश में जब तक एक वस्तु का स्पष्ट चित्रण न कर लिया जाय, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि हमने उस वस्तु का सर्वांग

स्वरूप समझ लिया है। अतः किसी वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर देखने, समझने व वर्णित करने से विज्ञान का नाम ही स्याद्वाद या अनेकान्तवाद या अपेक्षावाद (Science of Versatility or Relativity) कहा गया है।

जैनदर्शन का यह स्याद्वादी दृष्टिकोण किसी भी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को हृदयगम करने के लिए परमावश्यक साधन है। इसके जरिये सारे दृढवादी या रुढ़िवादी विचारों की समाप्ति हो जाती है तथा एक उदार दृष्टिकोण का जन्म होता है, जो सभी विचारों को पचा कर सत्य का दिव्य प्रकाश जोधने में सहायक बनता है। स्याद्वाद का यह सिद्धान्त हमारे सामने सारे विश्व की वैचारिक और तदुत्पन्न सार्वदेशिक एकता सुनहला चित्र प्रस्तुत करता है। मैं यह साहस के साथ कहना चाहूँगा कि यदि इस सिद्धान्त को विभिन्न क्षेत्रों में रहे हुए ससार के विचारक समझने की चेष्टा करें तो कोई सन्देह नहीं कि वे अपनी सघर्षात्मक प्रवृत्ति को छोड़कर एक दूसरे के विचारों को उदारतापूर्वक समझकर उनका शान्तिपूर्ण समन्वय करने की ओर आगे बढ़ सकेंगे।

इससे पूर्व कि स्याद्वाद के विशिष्ट महत्त्व को विस्तार से समझा जाय, जगत के वैचारिक सघर्ष की पृष्ठभूमि को पूर्णतया समझ लेना जरूरी है।

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है तथा उसका मस्तिष्क ही उसे सारे प्राणी समाज में एक विशिष्ट व उच्च स्थान प्रदान करता है। मनुष्य सोचता है रवय ही और स्वतन्त्रतापूर्वक भी, अतः उसका परिणाम स्पष्ट है कि विचारों की विभिन्न दृष्टियाँ ससार में जन्म लेती हैं। एक ही वस्तु के स्वरूप पर भी विभिन्न लोग अपनी-अपनी अलग-अलग दृष्टियों से सोचना शुरू करते हैं। यहाँ तक तो विचारों का क्रम ठीक रूप में चलता है। किन्तु उससे आगे क्या होता है कि एक ही वस्तु को विभिन्न दृष्टियों में सोचकर उनके स्वरूप को समन्वित करने की ओर वे नहीं झुकते। जिसने एक वस्तु की जिस विशिष्ट दृष्टि को सोचा है, वह उसे ही वस्तु का सर्वांग स्वरूप घोषित कर अपना ही महत्त्व प्रदर्शित करना चाहता है। फल यह होता है कि एकान्तिक

दृष्टिकोण व हठधर्मिता का वातावरण मजबूत होने लगता है और वे ही विचार जो सत्य ज्ञान की ओर बढ़ा सकते थे, पारस्परिक समन्वय के अभाव में विद्वेषपूर्ण संघर्ष के जटिल कारणों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। तो हम देखते हैं कि एकांगी सत्य को लेकर जगत के विभिन्न विचारक व मतवादी उसे ही पूर्ण सत्य का नाम देकर संघर्ष को प्रचारित करने में जुट पड़ते हैं। ऐसी परिस्थिति में स्याद्वाद का सिद्धान्त उन्हें बताना चाहता है कि सत्य के टुकड़ों को पकड़कर उन्हें ही आपस में टकराओ नहीं, बल्कि उन्हें तरकीब से जोड़कर पूर्ण सत्य के दर्शन की ओर सामूहिक रूप से जुट पड़ो। अगर विचारों को जोड़कर देखने की वृत्ति पैदा नहीं होती व एकांगी सत्य के साथ ही हठ को बाँध दिया जाता है तो यही नतीजा होगा कि वह एकांगी सत्य भी सत्य न रहकर मिथ्या में बदल जायगा। क्योंकि पूर्ण सत्य को न समझने का हठ करना सत्य का नकारा करना है। अतः यह आवश्यक है कि अपने दृष्टि बिन्दु को सत्य समझते हुए भी अन्य दृष्टि बिन्दुओं पर उदारतापूर्वक मनन किया जाय तथा उनमें रहे हुए सत्य को जोड़कर वस्तु के स्वरूप को व्यापक दृष्टियों से देखने की कोशिश की जाय। यही जगत के वैचारिक संघर्ष को मिटाकर उन विचारों को आदर्श सिद्धान्तों का जनक बनाने की सुन्दर राह है।

सर्व साधारण को स्याद्वाद की सूक्ष्मता का स्पष्ट ज्ञान कराने के लिए मैं एक दृष्टान्त प्रस्तुत कर रहा हूँ।

एक ही व्यक्ति अपने अलग-अलग के रिश्तों के कारण पिता, पुत्र, काका, भतीजा, मामा, भानजा आदि हो सकता है। वह अपने पुत्र की दृष्टि से पिता है तो इसी तरह अपने पिता की दृष्टि से पुत्र भी। ऐसे भी अन्य सम्बन्धों के व्यवहारिक उदाहरण आप अपने चारों ओर देखते हैं। इन रिश्तों की तरह ही एक व्यक्ति में विभिन्न गुणों का विकास भी होता है। अतः यही दृष्टि वस्तु के स्वरूप में लागू होती है कि वह भी एक साथ सत असत, नश्वर-अनश्वर, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, क्रियाशील-प्रक्रियाशील नित्य-अनित्य गुणों वाली हो सकती है। जैसे एक ही व्यक्ति में पुत्रत्व व पितृत्व दो विरोधी गुणों का

सद्भाव सम्भव है, क्योंकि उन गुणों को हम विभिन्न दृष्टियों से देख रहे हैं। उसी प्रकार एक ही वस्तु विभिन्न अपेक्षाओं से नित्य भी हो सकती है तथा अनित्य भी। जब स्थूल सासारिक व्यवस्था भी सापेक्ष दृष्टि पर टिकी हुई है तो वस्तु के सूक्ष्म स्वरूप को हठ में जकड़कर एकान्तिक बताना कभी सत्य नहीं हो सकता। यह ठीक वैसा ही होगा कि एक ही व्यक्ति को अगर पुत्र माना जाता है तो वह पिता कहला नहीं सकता और इसकी असत्यता प्रत्यक्ष सिद्ध है। चाहे तो यह सासारिक व्यवस्था ले लीजिए या सिद्धांतों की स्वरूप विवेचना—सब सापेक्ष दृष्टि पर अवलम्बित है। अगर इस दृष्टि को न माना जायगा व सर्वन्वित सारे पक्षों के आधार पर वस्तु के स्वरूप को न समझा जायगा तो एक क्षण में ही जागतिक व्यवस्था मिट सी जायगी। आश्चर्य यही है कि स्थूल रूप से जिस सापेक्ष दृष्टि को अपने चारों ओर सासारिक व्यवहार में देखा जाता है, उसी सापेक्ष दृष्टि को वैचारिक सूक्ष्मता के क्षेत्र में भुला दिया जाता है और फलस्वरूप व्यर्थ के विवाद उत्पन्न किये जाते हैं। एक क्षण के लिए सोचिये कि अगर एक व्यक्ति को 'एकान्त रूप से' पिता ही समझा जाय तो यह कथन कितना वेहूदा होगा कि वह पिता ही है यानी सबका पिता है, आपके पिता का भी पिता है। घट साफ है कि एकान्त दृष्टिकोण को सामने रखकर उसके सम्बन्धित अन्य दृष्टिकोणों को न समझने का हठ करना भी ठीक इसी तरह वेहूदा कहा जायगा। एकान्त दृष्टिकोण एक तरह से सत्य ज्ञान को विशृंखलित करने वाला है।

यहाँ यह शका की जा सकती है कि एक ही वस्तु में दो विरोधी घर्म एक साथ कैसे रह सकते हैं? शकराचार्य ने यह आपत्ति उठाई थी कि एक ही पदार्थ एक साथ नित्य और अनित्य नहीं हो सकता जैसे कि शीत और उष्ण गुण एक साथ नहीं पाए जाते किन्तु शका ठीक नहीं है। विरोध की शका तो तब उठाई जा सकती है जबकि एक ही दृष्टिकोण—अपेक्षा से वस्तु को नित्य भी माना जाय और अनित्य भी। जिस दृष्टिकोण से वस्तु को नित्य माना जाय, उसी दृष्टिकोण से यदि उसे अनित्य भी माना जाय तब

तो अवश्य ही विरोध होता है, परन्तु भिन्न-भिन्न दृष्टियों की आज्ञा से भिन्न-भिन्न गुण मानने में कोई विरोध नहीं आता, जैसे एक व्यक्ति उसके पुत्र की अपेक्षा से पिता माना जाता है व पिता की अपेक्षा से पुत्र, तब पितृत्व व पुत्रत्व के दो विरोधी धर्म एक ही व्यक्ति में अपेक्षा भेद से रह सकते हैं, उसमें कोई विरोध नहीं होता। विरोध तो तब हो जब हम उसे जिसका पिता माना है, उसी का पुत्र भी मानें। इसी तरह भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भिन्न-भिन्न धर्म मानने में कोई विरोध नहीं होता। मैं यहाँ किसी एक ही दिशा में बैठा हुआ हूँ। लेकिन मेरे सामने आप लोग अलग-अलग दिशाओं में मुक्त किए बैठे हैं और अतः आप लोग अपनी-अपनी अपेक्षा से मुझे अलग-अलग दिशा में बैठा हुआ बतला सकते हैं। जो मेरे सामने बैठे हैं, उनकी अपेक्षा से मैं पूर्व में बैठा हुआ हूँ और पीछे वालों की अपेक्षा से पश्चिम में तथा इसी तरह दायें और बायें बैठे वालों की अपेक्षा से दक्षिण व उत्तर में। इस तरह अपेक्षा भेद से मुझे अलग-अलग दिशा में बैठा हुआ बतलाने में कोई विरोध पैदा नहीं होता। एक ही वस्तु छोटी और बड़ी दोनों हो सकती हैं परन्तु उनसे बड़ी व छोटी वस्तु की अपेक्षा से। अतः विरोध की शक्ति प्रकट करने में शकराचार्य ने स्याद्वाद के सिद्धान्त को सम्यक् प्रकार से समझने का प्रयास नहीं किया प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि स्याद्वाद न तो विरुद्ध धर्मवाद है और न सशयवाद। वह तो वस्तु के सत्य स्वरूप को प्रकट करने वाला यथार्थवाद है।

जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होने वाला व नष्ट होने वाला और फिर भी स्थिर रहने वाला बताया गया है। “उत्पादयवदभौव्य युक्तं सत्” यह पदार्थ के स्वरूप की व्याख्या है। आश्चर्य मालूम होता है कि नष्ट होने वाली वस्तु भला स्थिर कैसे रह सकती है, किन्तु स्याद्वाद ही इसको सुलभना देता है। ये तीनों पर्यायों सापेक्ष दृष्टि से कही गई हैं। एक दूसरे के बिना एक दूसरे की स्थिति बनी नहीं रह सकती है। उदाहरण स्वरूप समझ लीजिये कि एक सोने का कड़ा है और उसे तुड़ा कर जंजीर बनाली गई तो वह सोना कड़े की अपेक्षा से नष्ट हो गया एक

जजीर की अपेक्षा से उत्पन्न हो गया, किन्तु स्वर्णत्व की अपेक्षा से वह पहले भी था और अब भी है, वह उसकी स्थिर स्थिति हुई। पदार्थ की पर्याय बदलती है। उसमें पूर्व पर्याय का विनाश व उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होती रहने पर भी पदार्थ का द्रव्य स्वरूप उसमें कायम रहता है। इस तरह पर्यायाधिक नय (दशा परिवर्तन) की अपेक्षा से पदार्थ अनित्य है और द्रव्याधिक नय (स्थिर स्थिति) की अपेक्षा से नित्य भी है। यही स्याद्वाद का मामिक स्वरूप है।

स्याद्वाद का यह स्वरूप एक ओर जैसे सभी दार्शनिक विवादों को समाप्त कर देता है, उसी तरह दूसरी ओर जगत के समस्त वैचारिक संघर्षों का भी समन्वयात्मक समाधान प्रस्तुत करता है। आज जब कि भीषण स्वतंत्रता, वैर-विरोध, घृणा, हिंसा, वर्ग-विद्वेष, साम्प्रदायिकता व स्वार्थ-परता के लम्बे युग के अत्याचारों से विश्व में भयंकर अज्ञान फैली हुई है, मनुष्यों के मस्तिष्कों का शान्तिपूर्वक एकीकरण विश्व शान्ति का सबसे बड़ा योगदान साबित हो सकता है। दो दो विश्व-युद्धों के बीभत्स तांडवकारी दृश्य आज भी सबकी आँखों के सामने घूम जाते हैं—वह भुखमरी, वह बर्बरता और सबसे बड़ा हिरोशिमा (जापान) पर फेंके गये उस अणुबम का विनाशक घडाका। परन्तु आश्चर्य कि भले ही ऊपर से शान्तिवार्ताएँ चल रही हैं, युद्ध समाप्ति के नारे लगाये जा रहे हैं, किन्तु अणुबम से भी भयंकर उद्‌जन दमो व नष्टजन बमों का उत्पादन किया जा रहा है और उस समय के महा-विनाश की कल्पना तक नहीं की जा सकती, जब कभी दुर्भाग्य से ऐसे शस्त्र-काम में लाये जाएँगे।

हमारे अज्ञ जो अन्दर-ही-अन्दर अज्ञान की ज्वाला बढ़ती जा रही है, उसे एक तरह से दिमागो या विचारो के युद्ध का ही नाम दिया जा सकता है। यह युद्धों का नया तरीका है और सबसे अधिक खतरनाक तरीका भी। जब तक विचारों की लड़ाई समाप्त नहीं होगी, तब तक इस बात की शंका कतई नहीं मिट सकती कि दुनिया के पटल पर नये युद्धों का गौरव भी प्राप्त हो सकता है। विचारों की कदमकदम समाप्त होने पर ही मानव

समाज का मस्तिष्क सन्तुलित व समन्वित हो सकेगा और तभी वह अपनी बर्बरता के पिछले इतिहास को हमेशा के लिए भुला सकेगा ।

आज इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं कि विचारों की हिंसक प्रतिद्वन्द्विता के कुपरिणामों को सत्कार अनुभव भी करने लगा है और उसके फलस्वरूप चाहे नेता लोग न चाहते हुए भी बोल रहे हों, पर कहा जा रहा है कि साम्यवाद व पूंजीवाद दोनों विचार प्रणालियाँ शान्तिपूर्वक एक साथ चलकर अपनी-अपनी व्यवस्थाएँ कायम रख सकती हैं । यह अनुभूति इस मृत्यु की ज्वलन्त प्रतीक है कि अब मनुष्य विचारों के दुःखद संघर्ष को सहन करते रहने की स्थिति में नहीं है और इसलिए मानव समाज को अब स्याद्वाद के समन्वयवादी व अपेक्षावादी सिद्धान्त की ओर झुकना ही होगा । यही सत्य को साक्षात् करने का रास्ता है और इसी में मानव जाति के शान्तिपूर्ण विकास का रहस्य छिपा हुआ है ।

स्याद्वाद के सिद्धान्त को जैनदर्शन का हृदय कहा जाता है । जैसे हृदय शुद्ध किया गया सभी अंगों में समान रूप से संचारित करता न रह सके तो शरीर का टिकना कठिन ही होगा । उसी तरह स्याद्वाद सभी सिद्धान्तों को समझने में समन्वय की उदार भावना की बराबर प्रेरणा देता रहता है । जैनदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता तो यहाँ है कि वह अपनी मान्यता के प्रति भी हठवादी (दुर्नयी) नहीं है । वहाँ तो सत्य से प्रेम किया जाता है और निरन्तर अपने स्वरूप को सत्य के रंग में रंगा रखने में परम सन्तोष की अनुभूति की जाती है । सत्य की आराधना जैनदर्शन का प्राण है । वह न अपनी मान्यता के विषय में दुराग्रही है और न दूसरों की मान्यताओं का किसी भी रूप में तिरस्कार करना चाहता है । वह तो केवल यह चाहता है कि समस्त विश्व पूर्ण सत्य के स्वरूप को समझने के सही राह पर ही आगे बढ़े ।

स्याद्वाद एक तरह से सत्कार के समस्त विचारकों व दार्शनिकों का आह्वान करता है कि सब अपने-आपसी हठवाद व एकांगी दृष्टिकोणों के झुलह को त्याग कर एक साथ बैठें तथा एक-दूसरे की विचारधाराओं को

स्पष्ट रूप से प्रादान-प्रदान करो। इस तरह जब सामूहिक रूप से व शुद्ध जिज्ञासा व निर्णय बुद्धि से सम्मिलित विचारविमर्श किया जायगा, उनका मन्थन होने लगेगा तो जरूर ही छाछ-छाछ पेदे में रह जायगी और साररूप मन्थन ऊपर तैर कर आ जायगा। तब स्याद्वाद का सन्देश है कि उन विचारधाराओं के समूह में से असत्य अशो को निकाल कर अलग कर दो, हठवाद, एकान्तवाद और अपने ही विचारों में पूर्ण सत्य मानने की दुराग्रही वृत्तियों को पूरे तौर पर तिलाजलि दे दो। इसके बाद सबकी मस्तिष्क और हृदय की शक्तियों के सम्मिलित सहयोग से सत्य के भिन्न-भिन्न खंडों का चयन करो उन्हें जोड़ कर पूर्ण सत्य के दर्शन की ओर उन्मुख होओ। सूंड़ ही हाथी है, पाँव ही हाथी है या पीठ ही हाथी है, मान सकते रहने से कभी भी हाथी का असली स्वरूप समझ में नहीं आया वल्कि ऐसा हठाग्रह करने पर तो ऐसा मानना एकांगी सत्य होने पर भी हाथी के पूर्ण स्वरूप की दृष्टि से अत्यन्त ही कहलायगा। अतः सिद्धान्तों और विचारों के क्षेत्र में इसे गभीरतापूर्वक समझने व सुलभाने की जरूरत है कि सूंड़ ही हाथी नहीं है। पाँव हाथी नहीं है या पीठ ही हाथी नहीं है, वल्कि ये सब अलग-अलग हिस्से मिलकर पूरा हाथी बनाते हैं। आज उन अंधों की तरह हाथी देखने की मनो-वृत्ति चल रही है—वया तो दार्शनिक क्षेत्र में और वया वैचारिक क्षेत्र में उसे इस स्याद्वाद के प्रकाश में सुष्ठु बना देने का आज महान् उत्तरदायित्व आ पड़ा है। क्योंकि अगर वर्तमान में फैला हुआ विचार सघर्ष और अधिकाधिक जटिलता का जामा पहनता गया तो आश्चर्य नहीं कि एक दिन पिछले युद्धों से भी अधिक खौफनाक युद्ध ससार व मानव जाति की विकसित विचारणीय शरणावृत्ति को दुरी तरह तहस-नहस कर डालेगा।

विश्व शान्ति का प्रश्न धर्म, सभ्यता व संस्कृति के विकास तथा समस्त प्राणियों के हित का प्रश्न है। कोई भी व्यक्ति चाहे किसी भी क्षेत्र में कार्य कर रहा हो, इस प्रश्न से अवश्य ही सम्बन्धित है। इस प्रश्न की सही सुलभन पर ही मानवता की वास्तविक प्रगति का मूल्यांकन किया जा सकता है और विश्व शान्ति की नींव को मजबूत करने का आज की परिस्थितियों में

सबसे प्रमुख यही उपाय है कि चारो ओर फैला हुआ विचारो का विपैल विभेद शान्त किया जाय और एक दूसरे को समझने के उदार दृष्टिकोण का प्रसार हो सके ऐसे व्यापक वातावरण का सर्जन जैनदर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त की सुदृढ आधारशिला पर ही किया जा सकता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति व सामूहिक रूप से विभिन्न राष्ट्र व समाज इस स्याद्वाद दृष्टि को अपने वैचारिक क्रम में स्थान देने लगे तो विश्व शान्ति की कठिन पहली सहज ही में शान्ति व सद्भावना से हल की जा सकती है। इस महान् सिद्धान्त के रूप में जैनधर्म विश्व की बहुत बड़ी सेवा बजाने में समर्थ है, क्योंकि अन्य दर्शनों की तरह जैनधर्म कभी भी साम्प्रदायिकता के बन्धनों में नहीं बंधा और इसलिए अपनी व्यापकता व विशालता को निभाता हुआ विश्व के समस्त प्राणियों के हितसम्पादन का महान् सन्देश गुजायमान करता रह सक्ता। जैनदर्शन के अन्य सिद्धान्तों की विवेचना अन्यत्र की गई है, किन्तु यदि हृदय स्वरूप इस एक सिद्धान्त पर ही पूरा-पूरा ध्यान दिया जाय तो कई विषय समस्याएँ सुलभ जायेंगी और तब मानवता के विकास का मार्ग निष्कटक हो सकेगा।

उपसंहार रूप में मुझे यही कहना है, जो कि इस शास्त्रवाक्य में कहा गया है— “अथि सत्येण परेण परं, नत्थि असत्थ परेण परं”

सत्य का साक्षात्कार ही जीवन का चरम साध्य है। जीवन उन अनुभवों व विभिन्न प्रयोगों का कर्मस्थल है, जहाँ हम उनके जरिये सत्य की साधना करते हैं, क्योंकि सत्य ही मुक्ति है, ईश्वरत्व की प्राप्ति है। जीवन के आचार-विचार की सुघडता व सत्यता में व्यक्ति, समाज व विश्व की गाति रही हुई है तथा इसी चन्द्रमुखी शान्ति के शुभ वातावरण में ऊँचे-से-ऊँचा आध्यात्मिक विकास भी सबके लिए सरल बन सकता है। अतः विचारों की उदारता, पवित्रता शान्तिपूर्ण प्रेरणा की जागरूकता के लिए आज स्वाद्वाद के सिद्धान्त को बड़ी वारीकी से समझने, परखने व अमन में लाने की विशेष आवश्यकता आ पड़ी है, जिसके लिए मैं आशा करूँ कि सब तरफ से उचित प्रयास अवश्य किये जायेंगे।—महावीर भवन, वाराणसी, चाँदनी चौक, दिल्ली

कर्मवाद का अन्तरहस्य

“सुविधि जिनेश्वर वदिये हो, चन्दत पाप पुत्ताय.....”

मनुष्य स्वय ही अपने व समाज के भाग्य का निर्माता है—इस तथ्य को जब-जब उससे भूला देने की कोशिश की गई, तब-तब मानव समाज में शिथिलता व अकर्मण्यता का वातावरण फैला। किसी अन्य पर अपने निर्माण को आश्रित बनाकर विकास करने का उत्साह मनुष्य में नहीं बन पड़ता, चाहे वंसा आश्रय खुद ईश्वर को ही सौंपा गया हो। मनुष्य गतिशील प्राणी है और जहाँ भी उसे गतिहीन बनाने का प्रयास किया गया कि उसका विकास रुक गया। मनुष्य स्वय ही पर आश्रित रह सकता है, किसी अन्य पर उसे आश्रित बताकर उसको गतिशील नहीं बनाया जा सकता है।

सुविधि जिनेश्वर को की गई उपर्युक्त प्रार्थना में भी इसी तथ्य को प्रकाशित किया गया है कि स्वय आत्मा ही अपने पुरुषार्थ से विकास करता हुआ परमात्म पद को प्राप्त करता है। ईश्वरत्व कोई ऐसा अलग पद नहीं है, जहाँ कभी भी आत्मा की पहुँच न हो या ईश्वर ही धरती पर अवतार लेकर महापुरुष के रूप में जगदुद्धार करता है तथा साधारण आत्मा की तरह रहती नहीं, ऐसी मान्यता जैनधर्म नहीं रखता। वह तो हर आत्मा की महान शक्ति में विश्वास करता है। जैन दृष्टि के अनुसार आत्मा ही परमात्मा बन जाता है, भक्त स्वय भगवान बन कर दिव्य स्थिति को प्राप्त कर लेता है और आराधक एक दिन आराध्य के रूप में अपने उच्चतम स्वरूप को ग्रहण करता है और जैनधर्म के इस प्रगतिशील विकासवाद का सूत्राधार तिरान्त है, कर्मवाद का सिरान्त।

भारत की वैश्यायिक, वैज्येयिक, गान्ध, पौराणिक, योग आदि अन्य सभी धार्मिक परम्पराएँ आत्मा और परमात्मा के बीच मौलिक भेद को स्वीकार करती हैं। उनका मानना है कि आत्मा विकास करता है, निर्वाण

भी प्राप्त करता है और ईश्वर के स्थान में प्रवेश भी करता है, किन्तु स्वयं ईश्वर नहीं बनता। वह सिर्फ ईश्वरीय अंश बनकर ही निवास करता है। उनके इस कथन की पृष्ठभूमि यह है कि ईश्वर तो सिर्फ एक है व एक ही रहेगा। परन्तु जैनधर्म इस दृष्टि को स्वीकार नहीं करता और उसका कारण ईश्वर को मानने के मूलरूप में विभेद का अस्तित्व है। ईश्वर एक है व एक रहेगा, ऐसा अन्य दर्शन मानते हुए यह बताते हैं कि ईश्वर सृष्टि का रचयिता भी है। अतः ईश्वर अनेक मानने में आपत्ति पड़ती है। लेकिन जैनधर्म शुद्ध मानव-विकासवाद की आधारशिला पर स्थित है और इसलिए वह ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व को नहीं मानता। परिणामस्वरूप जैनदर्शन में ईश्वरत्व एक पद माना गया है जो आत्मा के चरम विकास का सुफल है और इसलिए मुक्तात्मा ही ईश्वर है। उसके समान ही सभी मुक्तात्माएँ भी शुद्ध, बुद्ध, निरजन, निर्विकल्प रूप ग्रहण कर लेती हैं। आत्म-द्रव्य की मौलिक अवस्था की अपेक्षा आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं। सिद्ध और ससारी जीवों के बीच का भेद वाम्ताविक्र नहीं, सिर्फ कर्ममूलक है और इस भेद को साधना की शुद्धता से पाटा जा सकता है।

अतः कर्मवाद का सिद्धान्त हम सत्य का प्रतीक है कि प्राणी के लिए कोई भी विकास, चाहे वह चरम विकास के रूप में ईश्वरत्व की प्राप्ति ही क्यों न हो, असंभव नहीं। वह स्वयं कर्ता है और फल भोक्ता है। अब इस कर्मवाद की व्यवस्था का विश्लेषण किया जाय, उससे पूर्व आत्मा के स्वरूप व उसमें होने वाले अन्तर को इस जगत-क्रम की पार्श्वभूमि में समझ लेना आवश्यक है।

जैनदर्शन का यह मतव्य है कि आत्मा का मूलस्वरूप परम विशुद्ध अनन्त ज्ञान-दर्शन सुख एवं शक्तिनय तथा निरजन, निर्विकल्प, मुक्त और स्वतंत्र है। अपने मूलरूप में आत्मा सूर्य के समान प्रकाशमान है किन्तु जीवात्मा के अपने अकर्तव्यों के दादल एकत्रित हो-हो कर आत्मा को ढकते रहते हैं। यह क्रम सृष्टि में चलता रहता है, जिसकी कोई आदि नहीं। जैनधर्म का मानना है कि सृष्टि का अम आदि व अन्त विहीन है और

इसलिए ईश्वर की रचना नहीं। सृष्टि तो स्वतः परिणामनशील है। जीव और जड़ के संयोग से इसकी गति चलती रहती है और यह संयोग ही विभिन्न कर्तव्याकर्तव्य का कारण तथा तदनुसार फलाफल का परिणाम होता है। तो इस सृष्टि की गति में आत्मा पर आवरण चढ़ता जाता है और उसी आवरण को धीरे-धीरे साधना के बल पर जब काटना शुरू किया जाता है तो एक दिन वही आत्मा अपनी विशुद्ध स्थिति में पहुँच जाता है एवं वही विशुद्ध स्थिति मुक्त या ईश्वरत्व की स्थिति है।

तो हमने देखा कि संसार में गति करते हुए जीवात्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में ढका हुआ रहकर उससे विस्मृत व विश्रुखलित-सा बन जाता है और उसकी इस विश्रुखलता की स्थिति के साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उस विश्रुखलता को बनाने और मिटाने वाली कौन शक्ति है? वास्तव में वह शक्ति तो चेतन ही है किन्तु उस विश्रुखलता का लेखा-जोखा बनाये रखने वाले जड़ कर्मपुद्गल होते हैं, जिनके आधार पर जीवों को उनके कार्यों का यथावत् परिणाम मिलता रहता है। इस तरह यह कर्मवाद का सिद्धान्त चेतन को कर्मण्यता व आत्म-निष्ठा की ओर सजग रखता है किन्तु उसके साथ ही कर्मपुद्गलों के बन्ध का विश्लेषण करके उसकी मजगता को स्थायी बनाये रखना चाहता है। अपना अकर्तव्य कभी भी मिट नहीं जायगा, वृत्तिक आवरण की एक परत बनकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को घेरता रहेगा और जब तक एक-एक करके वे आवरण की सब परतें न काट जायेंगी, आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में नहीं पहुँच सक्ता, ऐसी विचारणा ने व्यक्ति के अपने कार्यों में एक ओर जहाँ मनुष्य व मयमन आता है, वहाँ उसी मात्रा में कर्मण्यता का उत्साह व पुरुषार्थ की प्रदीपता भी छा जाती है।

कर्मवाद की विचारणा के पीछे जो मजबूती है, वह स्वतः प्रेरित फलवाद की धारणा है। अगर फलवाद का कार्य ईश्वर पर छोड़ा जाय, ऐसा कि अन्य दर्शन मानते हैं तो वही प्राश्नित अवस्था पैदा हो जाने पर मनुष्य में से रदाध्यय का भाव जाता रहेगा और तदुपरान्त प्रगति की ओर

बढ़ने की वैसी लक्ष्यसाधित विचारणा उसमें बनी न रह सकेगी। अन्य सभी दर्शन कर्म व फल की परम्परा को स्वीकार करते हैं किन्तु “मा फलेषु कदाचन” के साथ। कर्म जीव कर सकता है किन्तु फल तो ईश्वर के हाथ है, उसी की प्रेरणा से सब-कुछ चुकता है। जीव अपने सुख-दुःख में स्वतंत्र नहीं है—

अज्ञो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुख-दुःख यो ।

ईश्वरः प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा इवभ्रयेव वा ॥

तो इस फलवाद की दृष्टि को गम्भीरतापूर्वक पहले समझ लेना जरूरी है क्योंकि इसकी समझ के बिना कर्मवाद का वास्तविक स्वरूप ठीक समझ में नहीं आ सकता।

जैनधर्म कर्म-फलदाता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। जैसे ईश्वर सृष्टि रचना के पचड़े में नहीं, उसी तरह उसकी गति के पचड़े में भी नहीं। जिस प्रकार जीव कर्म करने में स्वतंत्र है उसी तरह फल प्राप्त करने में भी। वही शुभाशुभ कर्म करता है और उनका शुभाशुभ-फल पाता है। जीव सम्बद्ध कर्म में ही यह स्वभाव है कि वह अपने कर्ता को उसके यथावत् फल से प्रभावित कर देता है। यह बात में द्रष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर दूं। मनुष्य चेतन है और मदिरा जड़ है, किन्तु जब एक मनुष्य मदिरा का पान कर लेता है तो मनुष्य से वह सम्बन्ध होने के कारण इतनी शक्तिशाली बन जाती है कि मनुष्य नशा न आने देने की कोशिश भी करे किन्तु नशा लाएगी ही। किन्तु इसमें यह मानने की जरूरत नहीं पड़ती कि मनुष्य मदिरा पीता है, ठीक है परन्तु उसे नशा देने के लिए अर्थात् मदिरा पीने का फल प्राप्त करने के लिए किसी अन्य शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी। जिस तरह मदिरा स्वयं अपने पीने वाले को फल भुगता देती है, उसी तरह कार्य करने के साथ उस स्वभाव के कर्मपुद्गल, जो जीव के साथ भुगता देते हैं। अतः जैनधर्म ईश्वर प्रदत्त फलवाद को न मानकर स्वतंत्र कर्मफलवाद विश्वास रखता है।

एक बात और कही जाती है कि चूंकि प्राणी अच्छे और बुरे दोनों

तरह के कार्य करता है किन्तु वह वुरे कर्मों का फल भोगना नहीं चाहता, अतः ईश्वर न्यायाधीश के समान उसे उचित फल देता है और न्याय-व्यवस्था को कायम रखता है। किन्तु इस तर्क में भी कोई बल नहीं है। क्योंकि मदिरा पीना तो मनुष्य के हाथ था, किन्तु पीने के बाद उसके प्रभाव को भुगतना पड़ता है। तेल मर्दन किया हुआ व्यक्ति बालूकणों में न चूँटे तब तक उसके वग की बात पर बैठने के बाद तो वे कण चिपक ही जायेंगे। उसी तरह कर्म करने में आत्मा स्वतन्त्र है किन्तु स्वतः चालित प्रणाली द्वारा यदि निकचित् कर्मबन्ध हो जाय तो उसके फल को न रोका या निकचित् की अपेक्षा बदला ही जा सकता है। अपने आप काम करने वाली तोलने की मशीन में पाप इकन्नी डाल देंगे तो बाद में तो तोल का टिकट बाहर निकल ही जायगा, उसे रोका नहीं जा सकता। इकन्नी न डालना वह दूसरी बात थी, लेकिन डालने के बाद तो उस डालने वाले का भी कोई बल नहीं रहता, उसमें से टिकट निकल ही पड़ेगा। अतः कर्म करने के बाद प्राणी को 'Self regulator' की तरह जो किया है, उसका यथावत् फल पाना ही पड़ेगा। परन्तु जिस तरह अपने आप काम करने वाली तोलने की मशीन पर किसी मशीनमैन को बिठाने की जरूरत नहीं रहती, वह तो अपने आप ही काम कर लेती है, उसी प्रकार जब स्वतः प्रेरित व्यवस्था से प्राणी को अनिवार्य रूप से अपने कर्मों का यथावत् फल प्राप्त हो जाता है तो न्यायाधीश का रूप लेकर ईश्वर को बीच में आने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। कर्मफल के इस व्यवस्थाक्रम में जीव और जडकर्म के अतिरिक्त और किसी की भी अपेक्षा नहीं है।

उस सम्बन्ध में एक और शका उठाई जाती है कि कर्म तो पौद्गलिक है, जड है, उनमें फल देने की शक्ति कहाँ से आई? उसके लिए तो चेतन शक्ति चाहिए और इसलिए फलदान का आधार ईश्वर को ही मानना पड़ेगा। इस शका का समाधान भी ऊपर ही के विद्वानेपण से ही जाना है। कर्म स्वयं जड है, यह सही है किन्तु जब उनका सम्पर्क जीव के साथ होता है तो उनमें उस सम्पर्क में ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है जिसके कारण वे

जीव पर अच्छा बुरा प्रभाव डाल सकते हैं। जैसे नेगेटिव और पोजिटिव तत्व जब तक अलग-अलग रहते हैं तब तक उनसे विजली पैदा नहीं होती, किन्तु जब ये दोनों तत्व मिल जाते हैं तो एक शक्ति-विजली पैदा हो जाती है। आज के विज्ञान ने तो इस तथ्य को एक नहीं कई प्रयोगों से सिद्ध कर दिया है। जड़ स्वयं गतिशील नहीं होता किन्तु चेतन द्वारा सम्बन्धित होने पर प्रभावशील हो जाता है। एक मदिरा की बोतल भरी है पर उस रूप में वह मनुष्य पर कोई असर नहीं कर सकती, किन्तु ज्यों ही मनुष्य उसे पी जाय, उसका असर साफ होने लगेगा और आपको मदिरा की शक्ति स्पष्ट देखने लगेगी। किन्तु यह ध्यान में रखने की कोई चीज है कि उस शक्ति की उत्पत्ति मदिरा और मनुष्य के सम्पर्क से हुई। अतः कर्मफल का चुनाव जीव और कर्म पुद्गल के सम्पर्क का ही परिणाम है, उसके बीच ईश्वर को डालना तो उसको ईश्वरत्व से छुटाकर सासारिकता के पचड़े में डालना है। क्योंकि अगर ईश्वर को फलदाता माना जाय तो उन्हे सारे सासारिक मनोविकारों में आना पड़ेगा, कारण कि सृष्टि भी तो वही माना जाता है। वही शेर को भी पैदा करे और बकरी को और उसी की प्रेरणा से शेर अपने शिकार को ढूँढता चलता हुआ बकरी के पास पहुँचा जाय और फिर उसी की प्रेरणा से वह उसे खा जाय, तब फिर ईश्वर खड़ा होकर शेर को बकरी की हत्या का कुफल दें, ऐसा व्यवस्थाक्रम समझ में न आने लायक ही क्रम प्रतीत होता है। ईश्वर का स्वरूप रागद्वेष रहित, विकारहीन, परम दयालु, सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान माना गया है, परन्तु अगर उन्हे अनुग्रह, निग्रह करने वाला, ऊँच-नीच पैदा करने वाला व उन्हे कर्तव्याकर्तव्य दोनों की प्रेरणा देने वाला और फिर उनके लिए ही दंड-विधान करने वाला माना जायगा तो इस सृष्टि के सारे दुःखों, सारे पापों और सारे विकारों का उत्तरदायित्व उसके ही मत्थे मढ़ा जाना चाहिए। यही नहीं किन्तु अपनी ही रचना का फल निर्दोष प्राणियों को भुगनाने की एवज में उसे क्रूर भी कहा जाना चाहिए। दूसरे अगर ईश्वर भी कर्मानुसार ही फल देता है तो कर्मों का प्राधान्य ही हुआ, ईश्वर का ईश्वरत्व ही क्या? किन्तु वास्तव

मे ऐसा व्यवस्थाक्रम है नहीं और ईश्वर फलदाता के रूप में समझा नहीं जाना चाहिए। जीव स्वयं कर्मों का कर्त्ता है और स्वयं फल का भोक्ता है, यही मुन्यगत सिद्धान्त है। कहा भी है—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

अर्थात् जीव स्वयं जो पहले कर्म करता है, उसी का शुभाशुभ फल प्राप्त होता है। यदि दूसरे के द्वारा दिया गया शुभ या अशुभ फल उसे मिले तो उसके किये हुए कर्म निरर्थक हो जाते हैं।

यहाँ एक शका की जा सकती है कि जब शुभ कर्म का फल शुभ ही तथा अशुभ कर्म का फल अशुभ ही होता है फिर कई लोग शुभ कर्म करते हुए अशुभ फल भोगते क्यों देवे जाते हैं व इससे विपरीत भी। इसका समाधान यह है कि तीनों कालों की पारस्परिक सगति पर कर्मवाद अवलम्बित है। वर्तमान का निर्माण भूत के आघार पर व भविष्य का वर्तमान के आघार पर होता है। अतः शुभ कर्म का फल अशुभ व इसके विपरीत प्रवृत्ति में यह मानना चाहिए कि वह फल उनके पूर्वजन्मकृत कर्मों का मिल रहा है। जो अभी दिया जा रहा है, उनसे उनके भविष्य का निर्माण होगा।

एवं जैन दर्शन की मान्यतानुसार कर्मों के स्वरूप पर मैं आपके सामने कुछ रोशनी डालना चाहूँगा।

प्रमुखतया कर्मों के दो रूप माने गये हैं—(१) भावकर्म और (२) द्रव्यकर्म। भावकर्म आत्मगत सत्कार-विषयों की उत्पत्ति है जैसे मोह व रागद्वेष आदि जो अज्ञान के कारण आत्मा की वैभक्ति अवस्था के लोपक होते हैं। जिनको वेदान्त में माया, ज्ञान में प्रकृति, बौद्ध में वामना, नैयायिक में अज्ञान आदि नामों से कहा गया है। इन भावकर्मों के द्वारा आत्मा अपने पाप-पान में स्थितिकर्म परमाणुओं को प्राकृष्ट करता है

श्रीर उन्हें विशिष्ट रूप देता है, जिन्हें द्रव्यकर्म या कामणि शरीर कहा जाता है। जीव की रागद्वेष रूप जैसी परिणति उस समय होती है, उसके अनुसार उन भौतिक सूक्ष्म परमाणुओं में कर्मफल देने वाली शक्ति उसी प्रकार पैदा होती है जिस तरह संघर्षण से विद्युत्। ऐसी कर्मफल शक्ति युक्त कामणि वर्गणा को 'कर्म' कहते हैं। आत्मा इन सूक्ष्म परमाणुओं को अपनी ओर उसी तरह आकृष्ट करता है जिस प्रकार ब्रॉडकाटिस्मा स्टेशन पर बोले गये शब्दों को विजली के जरिये फेंके जाने से वे सारे वायुमण्डल से सम्बद्ध हो जाते हैं। प्रत्येक क्रिया का उसके आसपास के वातावरण में असर होता है जीव भी जब मन, वचन या काया से कोई क्रिया करता है तो उसके समीपवर्ती वातावरण में हलचल मचती है और कामणि वर्गणों के सूक्ष्म परमाणु आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं। इस तरह यह कर्मवाद की प्रक्रिया का क्रम चलता है।

इस प्रक्रिया द्वारा जो पुद्गल आत्मा से सम्बद्ध हो जाते हैं, वे ही जीव को शुभाशुभ फल का संवेदन कराते हैं तथा जब तक ये सम्बद्ध रहते हैं, आत्मा को मुक्ति की ओर प्रयाण करने से रोकते हैं। एक योनि से दूसरी योनि में भी आत्मा को ये ही भटकाते हैं तथा ये ही बादल बनकर आत्मा के सूर्य को आच्छादित किये रहते हैं।

कर्मवाद का यह सूक्ष्म विवेचन जैन दर्शन की ही मौलिक देन है। अन्य दर्शनों में जन्मजन्मान्तर की परम्पराओं का वर्णन है किन्तु कामणि शरीर की सूक्ष्म मान्यता अन्यत्र नहीं मिलती। हाँ, वेदान्त में माना गया लिंग शरीर व न्याय वैशेषिक परम्परा का अणु रूप मन इसी मान्यता की अस्पष्ट छाया अवश्य है। जैन साहित्य में कर्म प्रवृत्ति की अमुरु काल तक फल देने की शक्ति, फल देने की तीव्रता या मन्दता और आत्मा के साथ बँधने वाले कर्म परमाणुओं का प्रमाण जिन्हें पारिभाषिक शब्दों में प्रकृति बध, स्थिति बंध, अनुभाग बध और प्रदेश बध कहते हैं आदि का बड़ा ही गहरा विशद वर्णन दिया गया है, जिन्हें समझने के लिए काफी विस्तार की आवश्यकता होगी।

कर्म के विभिन्न भेदों को समझने के पूर्व यह समझना जरूरी है कि वे भेद कैसे पैदा होते हैं, जब कि कार्मण वर्गणा के पुद्गल तो एक-से ही होते हैं ?

जिस प्रकार भोजन आभास्य में जाकर पाचन क्रिया द्वारा विभिन्न रूपों में बदल जाता है, उसी प्रकार जीवन की भावना के अनुसार इन कार्मण पुद्गलों में भी विभिन्न प्रकार की शक्ति पैदा हो जाती है और वे विविध शक्तियाँ आत्मा की विभिन्न शक्तियों को आच्छादित कर देती हैं। अतः आत्मा की विभिन्न शक्तियों, गुणों को आच्छादित करने के कारण उन गुणों के आधार पर कर्मों का वर्गीकरण किया गया है। इस तरह कर्मों के भेद आठ माने गये हैं—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म—जो कर्म सर्व पदार्थों को स्पष्टतया जानने की आत्मा की शक्ति को ढँक लेता है तथा इस आच्छादन के गाढेपन के अनुसार ही आत्मा की ज्ञानशक्ति न्यूनधिक हो जाती है। ज्यों-ज्यों आवरणों की परतें बटती जायँगी, ज्ञानशक्ति अधिकाधिक प्रकाशित होती जायगी।

(२) दर्शनावरणीय कर्म—यह आत्मा की दर्शन शक्ति का निरोधक है और उस द्वारपाल की तरह है जो इच्छुक को राजा के दर्शन करने से रोक देता है।

(३) वेदनीय कर्म—आत्मा के अबाध सुख को ढँककर यह उसे वेदना (सुख दुःखकर) का अनुभव कराता है। यह कर्म गहद से सनी हुई छुरी की जीभ से चाटने के समान बताया गया है।

(४) सोहनीय कर्म—मदिरापान की तरह इसके द्वारा आत्मा की विवेक शक्ति ढँक जाती है अर्थात् आत्मा-परमात्मा के विषय में तथा जड-चेतन के भेद विज्ञान को व तदनुसार सम्यक् आचार रूप विवेक को आच्छादित करता है और वह दिवारों व कपायों में फँस जाता है। यह आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप से ही विरमृत कर देता है, अतः यह आत्म विकास का रास्ता बड़ा बँदी है। ज्योंही यह पूर्णतया बटेगा, आत्मा अपने मूलरूप-

परमात्मरूप में पहुँच जायगा ।

(५) आयुकर्म—यह आत्मा को जीवन की सीमाओं में बाँधता है और बेड़ी की तरह उसके स्वातंत्र्य गुण पर आघात करता है ।

(६) नामकर्म—आत्मा के अमूर्त गुण को घात करके यह चित्रकार की तरह नाना शरीरों के रूप बनाता है और उन्हें विभिन्न रूपों में रगमच पर लाता है ।

(७) गोत्र कर्म—आत्मा की समान शक्ति को विषम बनाने का काम यह कर्म करता है । बाह्य रूप से देश, जाति, गोत्र गत भेदों को यही पैदा करता है ।

(८) अन्तराय कर्म—आत्मा के असीम पौरुष का यह कर्म अवरोध किये रहता है । मन्त्रवद्ध सर्प की तरह इस कर्म के वश में आत्मा अपने पराक्रम को प्रकट करने में अशक्त बना रहता है ।

उपरोक्त कर्मों में जानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म ये चार आत्मा के मूलगुणों का घात करने से घाती तथा शेष चार अघाति कर्म कहलाते हैं ।

रक्त में फैले हुए रोग कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए जैसे उसके सफेद कणों को पुष्ट किया जाता है, उसी तरह जो आत्माएँ अपने पौरुष व समय की धवलता एकत्रित करते हैं, उस शक्ति द्वारा कर्मों की शक्ति को विनष्ट कर देते हैं और ज्यो-ज्यो कर्मों की शक्ति नष्ट होती चली जाती है, आत्मा के वे गुण अधिकाधिक स्पष्टता से प्रकट होते चले जाते हैं । इस प्रकार कर्म-जाल को पूरी तरह काट देने पर आत्माएँ सिद्ध, बुद्ध, युक्त और अजर-अमर हो जाती हैं ।

यहाँ यह समझ लिया जाय कि आत्मा एक बार पूर्ण सूत्र में होने के बाद फिर से कर्म से सम्बद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि मुक्त अवस्था में उसकी क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं । फिर कारण के अभाव में कर्मबन्ध के कार्य का होना भी संभव नहीं माना जा सकता । जैन धर्म अवतारवाद में विश्वास नहीं करता, जिसके अनुसार मुक्त भी पुनः अवतार धारण कर सार

में आता है। अतः कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है क्योंकि उसके प्रारम्भ की जानकारी ज्ञान सीमा के बाहर की बात भी है, लेकिन इनका सम्बन्ध शान्त है अर्थात् एक दिन दोनों का सम्बन्ध समाप्त होकर आत्मा अपने मूल रूप में पहुँच सकता है। अनादि चीज अनन्त ही हो, शान्त नहीं, ऐसी शक्य व्यर्थ है क्योंकि भूगर्भ में सोना और मिट्टी युगों से साथ रहने पर भी एक दिन खोदकर अलग कर दिये जाते हैं, इसी तरह विकास के प्रयत्नों में परस्पर सम्बद्ध चेतन व जड़ भी पृथक् हो सकते हैं।

कर्मबन्धन के प्रधान कारणों का उल्लेख करते हुए जैन शास्त्रों में कहा गया है कि मोह, अज्ञान या मिथ्यात्व, यही सब से बड़ा कारण है क्योंकि इसी के कारण रागद्वेष का जन्म होता है व तज्जन्य विविध विकारों से आत्मा कर्म से लिप्त हो जाती है। तत्त्वार्थ सूत्र में कर्मबन्धन के कारण पर कहा गया है—

“नकषाय त्वाज्जीव. कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादन्ते स बन्धः।”

रागद्वेषात्मक कषाय परिणति से आत्मा कर्मयोग्य पुद्गलों को बंध शृंखला करता है तो वही बन्ध है तथा इसके कारण मिथ्यात्व, अविरति, अज्ञान, कषाय और योग दत्ताये गये हैं। यह उल्लेखनीय स्थिति है कि कर्मबन्धन का मुख्य कारण बाहर की क्रियाएँ उतनी नहीं, जितनी आन्तरिक भावनाएँ मानी गई हैं। शरीर पर घाव करने की बाह्य क्रिया एक-सी होते हुए भी छुरेबाज हत्यारे व सर्जन डॉक्टर के अध्यवसायों का जो अन्तर है, वही कर्मबन्धन की मूल निम्ति है। “मन. एव मनुष्याणां कारण बन्धशोक्षयोः।” अतः कर्मबन्धन से बचने के लिए भावनाओं की विशुद्धि की ओर सर्वप्रथम ध्यान दिया जाना चाहिए। क्रियाओं में अनासक्त भाव का प्रावृत्त बनाने से विकारों का प्रभाव नहीं पड़ता। शैलेपी नामकी क्रिया में तो अनासक्ति व्या, मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण निरोध ही कर लिया जाता है।

कर्मबन्धन से नर्दशा मुक्त होने के लिए नये आने वाले कर्मों को रोकना शक्य है। इस रोकने को नन्दर तथा जिन श्रोतों से कर्म आते हैं, उन्हें

कहा गया है। आस्रव का निरोध सवर है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र्य की शक्तियों से आत्मा के विकार-कर्मों को दूर करना चाहिए ताकि आत्मा कर्म मुक्त होकर अपने मूल रूप की ओर गति कर सके।

इस तरह जैन धर्म का कर्मवाद सिद्धान्त मानव को अपने निज का भाग्य स्वतः ही निर्माण करने की प्रेरणा देने के साथ ही उसे जीवन की ऊँची-नीची परिस्थितियों में शांति, उत्साह, सहनशीलता और कर्मठता का जागरूक पाठ पढ़ाता है। अपने पर छा जाने वाली आपत्तियों के बीच भी वह उन्हें अपना ही कर्मफल समझकर शान्तिपूर्वक सहन करने की क्षमता पैदा करता है तथा उज्ज्वल भविष्य के निर्माण हेतु सद्प्रयत्नों में प्रवृत्त हो जाने पर दृढ़ निश्चय कर लेता है। कर्मवीर को मानकर वह पूर्वकृत कर्मों के फल को अपने कर्ज चुकाने की तरह स्वीकार करता है। कर्मवाद के जरिये मनुष्य में स्वावलंबन व आत्म विश्वास के सुदृढ़ भाव जागृत होते हैं और यह इस सिद्धान्त का सब से बड़ा व्यवहारिक मूल्य है।

कर्मवाद का यही सन्देश है कि जो स्वरूप परमात्मा का है, वही प्रत्येक आत्मा का है, किन्तु उसे प्रकटाने के लिए विजातीय-भौतिक पदार्थों से मोह हटाकर सजातीय आत्मिक शक्तियों को प्रकाशित करना होगा। सुविधिनाथ की प्रार्थना का यही सार है कि अपने चरम सजातीय परमात्मा से प्रेम करके एक दिन यह आत्मा भी कर्मबन्ध से विमुक्त होकर उनके सदृश स्वरूप ग्रहण कर ले।

स्थान—

दिल्ली

अपरिग्रहवादु थाने स्वामित्त्व का विसर्जन

मनाये कैसे आज महावीर

शान्ति क्रान्ति कर धीर । ध्रुव०

भगवान् महावीर वर्तमान जैन शासन के नायक हैं । यद्यपि २३ तीर्थ-
ङ्कर महावीर से पहले हो चुके हैं और महावीर २४ वे तीर्थङ्कर थे । फिर
उन २३ तीर्थङ्करो का देश-काल पृथक् था । आज जो उपदेश प्रसारित व
जैन शासन चल रहा है, वह भगवान् महावीर द्वारा आदेशित कहलाता है ।
यह भी सही है कि धन्य तीर्थङ्कर व भगवान् महावीर के उपदेशो मे कोई
आधारगत भेद नहीं है किन्तु फिर भी देश-काल की परिवर्तित परिस्थितियों
के अनुसार सचेल-प्रचेल, चार महाव्रत-पाँच महाव्रत आदि मे अन्तर आया ।
समयानुसार भगवान् महावीर ने उन पर नवीन प्रकाश भी डाला, जिनमे मैं
आज अपरिग्रहवाद पर आपको जैन दृष्टिकोण समझाना चाहता हूँ ।

वैसे आज महावीर जयन्ती मना रहे हैं और श्वेताम्बर दिगम्बर की
स्वप्रदायिक दीवारे तोडकर सोचा जाय तो सभी महावीर के समान उपा-
सक हैं । यह आज जो सामूहिक कार्यक्रम बनाया गया है उसे मैं जागृत ही
करूँगा ।

जयन्ती समारोह तो अच्छा है किन्तु इस अवसर पर दो बातें आप लोग
सोचें । पहली तो यह कि महावीर ने किन प्रमुख सिद्धान्तो को प्रतिपादित
किया और उनका सत्य स्वरूप क्या है ? यह अध्ययन, उपदेश श्रवण व पठन-
पाठन का विषय है । जिस और आपकी प्रवृत्ति नजग होनी चाहिए ताकि
पहले तो आप स्वयं अपने सिद्धान्तो का मर्म समझ सकें और आप उन्हें
समय-समय पर दूसरो को भी समझावें । विशेष प्रचार के अभाव मे अच्छे शिक्षित
व्य मे भी जैन-धर्म के प्रति कई भ्रान्त धारणाएँ हैं । जैसे कोई कहते है कि
जैनधर्म तो वैदिक धर्म की एक शाखा मात्र है किन्तु यह गलत है अ

शलतियाँ तभी मिटेंगी जब आप लोग जैन सिद्धान्तों का विशिष्ट प्रचार करके उनके सही स्वरूप को लोगों के सामने प्रकाशित करोगे । जयन्ती समारोह के दिन इस समस्या को विशेष रूप से दिल में उतार कर समाधान निकालना चाहिए ।

यह एक निरी आस्था की बात नहीं, ऐतिहासिक चक्र की गति है कि जब-जब चारों ओर विकृतियाँ फैलती हैं, समाज में गिरावट फैलती है तो उसके विरुद्ध एक क्रान्ति भी भडकती है और वही क्रान्ति घनी-भूत होकर युग पुरुष की रचना करती है । “यदा यदाहि . . .” का एक दृष्टि से यही रहस्य है । भगवान् महावीर के जन्म के पहले की स्थितियाँ भी कुछ ऐसी ही विकृति हो चली थी । ब्राह्मणों का जीवन ऐश्वर्य से विलासी हो गया था, “वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति” का नारा लगाकर धर्म के मूल गुणों को भूल रहे थे तब एक क्रान्ति के रूप में महावीर अवतरित हुए । हमने अभी प्रार्थना की—“शान्ति क्रान्ति कर घोर” के अनुसार उन्होंने शान्ति क्रान्ति करके समाज में एक परिवर्तन पैदा किया और एक तरह से ब्राह्मण वर्ग के स्वयंभू दमन के विरुद्ध उन्होंने जन-जन की आत्मा को जगाया कि आत्मा ही अपने सुख दुःख का कर्म है, वही अपना मित्र और शत्रु है—

अप्पा कत्ता विकत्ताय, दुहाण्य सुहाण्य ।

अप्पा मित्त ममित्तं च, दुप्पडियो सुघडियो ॥

उस युग में कुछ लोगों के ऐश्वर्य एवं विलासिता तथा बहजन के दुःख को देखकर महावीर विकल हो उठे । उन्होंने अपने कल्याण के लिए दूसरों की दासता छोड़कर अपनी ही आत्मा को जागृत करने और बलवती बनाने की प्रेरणा दी ।

जैनधर्म को महावीर ने जो स्वरूप दिया, वह मुख्यतः प्रवृत्ति-कारक नहीं होकर, निवृत्तिवादी था । उन्होंने बताया कि जीवन नश्वर है और इस नश्वर जीवन में यदि कोई वृत्ति समस्त दुःखों का मूल है तो वह है ममत्व वृत्ति, गृह दृष्टि । जीवन में यदि पैनी दृष्टि से देखा जाय तो परिस्थितियाँ या कि पदार्थ सुख या दुःख नहीं देते बल्कि सुख-दुःख देती है वह दृष्टि जो उन

परिस्थितियों और पदार्थों के सम्बन्ध में बना ली जाती है। उदाहरण के लिए यदि एक मकान आपके स्वामित्व का है और आपके सामने कुछ लोग आकर उसे गिराने लगे तो आप कितने परेशान हो उठेंगे? आप विरोध करेंगे, भागेंगे और आवश्यक कार्यवाही करावेंगे। तो उस मकान के साथ चूंकि आपका अपना स्वामित्व अपना ममत्त्व लगा हुआ है इसलिए उसकी सर्वाधिक चिन्ता आपको होती है। कल्पना कीजिये कि ऐसी ही स्थिति किसी दूसरे के मकान के साथ गुजरती है तो उसके साथ आपका ममत्त्व नहीं होने से आपको वह पीडा नहीं होगी। इसके विपरीत आप अपने निज के मकान में रहे या कि वैसे ही सुख सुविधा वाले किराये के मकान में रहे तो भी सूखानुभव में काफी अन्तर होगा। तो मूल में पदार्थ नहीं, उनका ममत्त्व ही आपके सुख और दुःख का कारण बनता है।

इसीलिए हमारे यहाँ परिग्रह की व्याख्या की गई है, "मूर्छा परिग्रह।" पदार्थों का नाम परिग्रह नहीं, उनमें ममत्त्व रखकर आत्म ज्ञान से मज्ञा शून्य हो जाना परिग्रह कहा गया है जब जब पदार्थों में गृद्धि बढ़ती है और प्राणी अपने चेतन तत्व को भूलता है तब उसको परिग्रही कहा। तो यह स्पष्ट है कि परिग्रह पाप का मूल है और परिग्रह की मूल भावना स्वामित्व की भावना में छिपी हुई है। मैं अमुक धनराशि का स्वामी हूँ या कि अमुक सम्पत्ति मेरे स्वामित्व में है। यह ममत्त्व जब मनुष्य के मन में जागता है तो आत्मा को क्लुषित करने वाले सैकड़ों दुर्गुण उसमें प्रवेश करने लगते हैं।

ममत्त्व से जागता है राग और द्वेष। अपनी सम्पत्ति के प्रति राग कि वह दबे और उसकी रक्षा की जाय और राग जितना गाढा होता जायगा, उस सम्पत्ति की वृद्धि व रक्षा में वह उचित अनुचित कार्य-प्रकार्य सब कुछ वैचित्र्य करने लग जायगा। इसके साथ ही दूसरों की सम्पत्ति से उसके मन में द्वेष जायेगा और वह उस सम्पत्ति के प्रति विनाश की बात सोचेगा। इस राग और द्वेष की वृत्तियों के साथ मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, अन्याय की दूर दुर्गुण मानव मन में प्रवेश करती जायगी तथा इन बुराइयों की कैला-

वट में दुनिया का स्वरूप कैसा "त्राहि माम् त्राहि माम्" हो जाता है उसका अनुभव मैं समझता हूँ वर्तमान व्यवस्था में आपको हो रहा होगा।

इसीलिए भगवान महावीर ने अपरिग्रहवाद के सिद्धान्त पर विशेष प्रकाश डाला और निवृत्ति प्रधान मार्ग की प्रेरणा दी। उन्होंने साधु व गृहस्थ धर्मों के जो नियम बताये वे इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

साधु के लिए तो उन्होंने परिग्रह का सर्वथा ही निषेध किया, उसे निर्ग्रय कहा। पंचम महाव्रत से साधु अपने पास कोई द्रव्य नहीं रख सकता तथा वस्त्रादि जो भी रखता है वह भी केवल शरीर रक्षा की दृष्टि से या कि लोक-व्यवहार से, वरना उसमें वह क्षरा भी ममत्त्व नहीं रखे। साधु को इसीलिए कुछ पदार्थ रखते हुए अपरिग्रही कहा है कि उसका उनमें ममत्त्व नहीं होता और ममत्त्व क्यों नहीं होता कि उन पदार्थों पर वह अपना स्वामित्व नहीं मानता। वे पदार्थ वह भिक्षा द्वारा प्राप्त करता है। साधु के लिए तो भगवान ने कहा कि उसको अपने शरीर में भी ममत्त्व नहीं होना चाहिए इसीलिए जैन साधु का जीवन जितना सादा, जितना कठोर और जितना त्यागमय बतलाया गया है। उसकी समता अन्यत्र कठिनता से देखने में आवेगी।

तो भगवान महावीर ने साधु जीवन को कतई परिग्रह से मुक्त रखा ताकि वे गृहस्थों में फैले परिग्रह के ममत्त्व को घटाते रहे।

किन्तु गृहस्थों के लिए जो १२ व्रत उन्होंने निर्धारित किये उनमें परिग्रह नियंत्रण पर विशेष जोर दिया गया है। सिर्फ अपरिग्रहवाद की पुष्टि के लिए पाँचवा अणुव्रत स्थूल परिग्रह विरमण व्रत तथा सातवा उपभोग परिभोग परिमाण विरमण व्रत, दो व्रत रखे गये हैं। अन्य किसी विषय पर इतना जोर नहीं दिया गया है जितना कि परिग्रह से दूर हटने के विषय पर और इसका स्पष्ट कारण है कि परिग्रह याने मूर्च्छा रूप स्वामित्व ही नये-नये पाप कर्मों की रचना करता है और समाज में विकृतियाँ व अन्याय व प्रवृत्तियाँ फैलाता है।

मैं सामाजिक व सयम जीवन पर अपरिग्रहवाद के शुभ प्रभाव को

स्पष्ट करुं उससे पहले गृहस्थो के ५वे अणुव्रत व ६वें शिक्षाव्रत पर कुछ रोगनी डाल दूं।

गृहस्थो-श्रावको के ५वे अणुव्रत में पाँच प्रकार के परिग्रह को सीमित करने व उनमें यथाशक्य दूर हटते जाने के सम्बन्ध में प्रतिज्ञाएँ की जाती हैं—

- (१) खेत घर आदि का परिमाण—जिसमें मुख्यतः समस्त अचल सम्पत्ति का समावेश हो जाता है।
- (२) स्वयंकर रत्न का परिमाण—इसमें धातु व मुद्रा सम्बन्धी सम्पत्ति का समावेश किया गया है।
- (३) धन प्रौर धान्य का परिमाण—इसमें धातु व मुद्रा के अलावा तथा घर बिखरी सामग्री के सिवाय समस्त चल सम्पत्ति को ले लिया गया है।
- (४) दुपद व चौपद का परिमाण—इसमें नौकर-चाकर व पशुओं का परिमाण करने की बात रखी गई है।
- (५) घर बिखरी का परिमाण—घर सामग्री को उस अतिचार में शामिल किया गया है।

इन पाँचों प्रतिचारों में करीब-करीब सभी प्रकार की सम्पत्ति का समावेश हो जाता है, किसी प्रकार की सम्पत्ति छूटती नहीं। अब श्रावक को इस व्रत द्वारा प्रत्येक प्रकार की सम्पत्ति के विषय में न्यायाई निर्धारित कर लेनी चाहिए कि पशुक-अशुक परिवार में ही अशुक-अशुक प्रकार की सम्पत्ति का स्वामित्व वह रखेगा वरना उस न्यायाई से उपर प्राप्त होने वाली सम्पत्ति को वह विनजित कर देगा।

एक बार जब श्रावक ऐसी न्यायाई निर्धारित करे व प्रतिज्ञाएँ कर ले तो उसके दो प्रकार के फलदा हो जाते हैं। एक तो वह वि दिन-रात में जीवित धर्मों में वह दो बार प्रतिजन्म करे प्रवृत्ति अपने अणुव्रतों के विषय में है, दूसरा तो यह कि रहने उन व्रतों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का अतिचार हो नहीं सकेगा। अब रहने प्रतिजन्म में पाँचवें व्रत का

उल्लेख आयागा तो उसे सोचना होगा कि पिछले समय में इन पाँचों प्रतिज्ञाओं में से कहीं वह चूक तो नहीं गया है, कहीं उसने निर्धारित मर्यादा से अधिक किसी भी प्रकार की सम्पत्ति तो नहीं बढ़ा ली है। यह रोज बरोज की नियंत्रण उसकी तृष्णा को नियंत्रित कर देता है और सम्पत्ति के स्वामित्व-ममत्त्व से उसको मुक्त करता जाता है।

उसका दूसरा कर्तव्य यह होगा कि जब-जब भी उसे अपरिग्रही निर्ग्रन्थ साधुओं का समागम होगा तो उसकी ममत्त्ववृत्ति अधिकाधिक घटती जाय, इस और उसे ध्यान देना होगा। परिणाम यह होगा कि वह अपने निर्धारित परिणाम को घटाता जायगा। कल्पना कीजिये कि उसने धन-धान्य में दस हजार की सीमा बनाई तो वह धीरे-धीरे पाँच और दो की ओर चलता जायगा। इस क्रम का असर यह होगा कि एक और तो उसका प्रपच कम होगा, उसका आत्मा अधिकाधिक विकास की ओर उन्मुख होगा और दूसरी ओर समाज में सम्पत्ति का सचय घटकर विकेन्द्रीकरण बढ़ता जायगा।

भगवान महावीर ने गृहस्थ के लिए इतनी ही सीमा बनाकर सन्तोष नहीं किया वरन् उन्होंने उपभोग-परिभोग खाने-पीने में काम आने वाली वस्तुओं पर भी मर्यादा बनाने का उल्लेख किया व श्रावक के घन्धों के सम्बन्ध में भी १५ कर्मादान से प्रतिबन्ध लगाएँ जिनका उल्लेख ७वें अंगु-व्रत में किया गया है।

सातवाँ व्रत है—उपभोग, परिभोग, परिमाण, व्रत। इसके २६ बोल आपको इसलिए गिनाना चाहता हूँ कि आप अपरिग्रहवाद की सूक्ष्मता तक उतर कर इन मर्यादाओं में छिपे गभीर सामाजिक व आत्मिक महत्त्व को यथाविधि समझ सकें। इस व्रत के २६ बोल इस प्रकार हैं—(१) उल्लसि-याविहं—अगोछा टवाल आदि के प्रकार और मर्यादा करना (२) दन्तण विह—दाँतुन करने की सामग्री की मर्यादा करना (३) फल-विहं—फल के आवाना आदि फल की मर्यादा करना (४) अन्नगणविहं—तैलादि की मालिश करने के लिए मर्यादा करना (५) उवट्टणविहं—उवटन की (पीठी आदि) मालिश की मर्यादा करना (६) मजणविहं—

स्नान के लिए पानी का परिमाण करना (७) वस्त्रविहं—वस्त्रों की मर्यादा करना (८) त्रिलेखणविहं—शरीर पर लगाये जाने वाले चन्दन केसर आदि की मर्यादा करना (९) पुष्पविहं—फूलों की व फूलमाला की मर्यादा करना (१०) आमरणविहं—अलंकार आभूषण की मर्यादा करना (११) घूपविहं—घूप दीपादि नामग्री की मर्यादा करना (१२) पेजविहं—पीने की वस्तुओं की मर्यादा करना (१३) मक्खणविहं—धेवर आदि पक्वान्नों की मर्यादा करना (१४) ओदणविहं—रखे हुए चावल थूली आदि की मर्यादा करना (१५) सूपविहं—सूंग आदि दालों की मर्यादा करना (१६) विगयविहं—धी, तेल, दूध, दही आदि की मर्यादा करना (१७) सागविहं—दण्डुआ आदि शाक की मर्यादा करना (१८) माहुरविहं—मधुर फलों की मर्यादा करना (१९) जीमणविहं—बड़ा, पकौड़ी आदि जीमने के द्रव्यों की मर्यादा करना (२०) पाणिविहं—पीने के पानी की मर्यादा करना (२१) गुण्डानविहं—लोग, छनायची आदि वस्तुओं की मर्यादा करना (२२) दाहणविहं—यान, वाहन, नापी, घोड़े आदि की मर्यादा करना (२३) लणविहं—घरघरा पदम आदि की मर्यादा करना (२४) पण्डविहं—जूते, सोजे आदि की मर्यादा करना (२५) सच्चित्तविहं—नवित्त वस्तुओं की मर्यादा करना तथा (२६) दग्धविहं—खाने-पीने के काम में आने वाले सचित्त सचित्त पदार्थों की जो उपर के नियमों से बने हुए हैं उनही मर्यादा करना, उपभोग—एक द्वार भोगने में आने वाले अन्न जल आदि तथा परिभोग—द्वार-द्वार भोगने में आने वाले अन्न पाशुपरा आदि पदार्थों की इस प्रकार मर्यादा की मर्यादा बाधनी होती है और परिभोग के समय इनके सम्बन्ध में निम्न प्रकार से प्रतिचार की शालोचना करनी होती है—

- (१) मर्यादा के उपरान्त सचित्त का श्रावण किया हो,
- (२) नवित्त प्रतिवृत्त (नवित्त का नवित्त में सम्बन्धित करके) का श्रावण किया हो,
- (३) उपभोग का श्रावण किया हो
- (४) परिभोग का श्रावण किया हो

(५) तुच्छ श्रौषधियो का भक्षण किया हो या ऐसे पदार्थों का उपयोग किया हो जिसमे थोडा खाया जाय व ज्यादा फँकना पड़े—तो मैं प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ ।

इसी व्रत मे भोजन के अलावा घघे के सम्बन्ध मे १५ कर्मादानो का भी उल्लेख किया गया है कि निम्न प्रकार के घघे जिनमे एक ओर तो हिंसा की मात्रा अधिक होती है और दूसरी ओर जो परिग्रह का भयकर गति से संचय बढाते हैं—श्रावक को नही करने चाहिए—

- (१) इंगालकम्मे—कोयले बनाना आदि जिसमे अग्नि का महारम्भ करना पड़े ।
- (२) वणकम्मे—जगलात के ठेके लेना, लकडी कटवाना आदि ।
- (३) भाड़ीकम्मे—यान या वाहनो को किराये पर चलाने का घघा करना । इसमे वर्तमान यातायात का व्यापार आ जाता है ।
- (४) फोड़ीकम्मे—जमीन फोडने-खान खदान का काम करना ।
- (५) दन्तवारिणज्जे—दाँत-हाथीदाँत वगैरा का व्यापार करना ।
- (६) लवखवारिणज्जे—अनेक जीवो की हिंसा से बनी हुई लाखादि घातुप्रो का व्यापार करना ।
- (७) रसवारिणज्जे—मादक रस—शराब आदि का व्यापार करना ।
- (८) केसवारिणज्जे—सुन्दर केश वाली स्त्रियो का अर्थात् दासियो का क्रय-विक्रय करना ।
- (९) विषवारिणज्जे—विभिन्न प्रकार विष-जहर का व्यापार करना ।
- (१०) जन्तपित्तलण कम्मे—यत्रो द्वारा पीलने का काम कराना, इसमे मिल कारखानो का समावेश हो जाता है ।
- (११) नित्तलंछण कम्मे—घोडे, साड आदि को लम्पी करने का व्यापार
- (१२) दवगिगदावणया—जगल आदि मे आग लगाने का कार्य
- (१३) सरहदतलावपरिपोषणया—सरोवर तालाव आदि को खाली कराकर सुखाना ।
- (१४) असईजनपोषणया—आजीविका के लिए हिंसक पशु व

दुराचारी का पोषण करना ।

(१५)

यह एक मसूचा चित्र मैंने रखा है कि श्रावक को भी परिग्रह को परिमित करने के लिए भगवान ने प्रतिबन्धित किया है—साधु तो पूर्णतया प्रतिबन्धित है ही । श्रावक पर भी जो वारिक मर्यादाएँ ऊपर बताई गई है, उनके महत्व पर विचार करना जरूरी है ।

भगवान महावीर के अपरिग्रहवाद की गहराई में घुसकर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि वहाँ व्यक्ति और समाज दोनों को सन्तुलित करने का विचार दिया गया है । समाज में विषमता, घोषण एव अन्ध्याय की जननि पम्पक वृष्टि है जो दूसरी तरफ व्यक्ति के चरित्र और अध्यात्म को भी नीचे पिगती है । जिन समाजवादी निद्वान्त की कल्पना की जाती है, वह भी क्या है—एक तरह में समाज में सम्पत्ति, धनधान्य एव उपभोग परिभोग की पम्पुओ की समान रूप से मर्यादा बाँधने की ही तो बात है जो महावीर पभी से निर्देग कर गये हैं ।

वह स्पष्ट है कि जब साधन सामग्री का नियमन किया जाय तो निश्चित है कि उनका कम हाथों में सग्रह नहीं होगा बल्कि वही सम्पत्ति और सामग्री अधिकतर हाथों में विखर जायगी । जीवन निर्वाह के लिए पोषण की आवश्यकता नहीं होती है, वह तो होती है सग्रह के लिए । इसीलिए समाज ही समाज में सारी सुगर्वा पैदा करता है—एक ओर तो बने-बने दंगलों का दंगल और दूसरी ओर जीर्णोद्धारों की दरिद्रता से रक्त प्रायः रक्त और विषमता की उपज - । इस विषमता से सधने बड़ी जो हानि होती है वह है सात्त्विक और माध्यात्मिक हानि । वे व्यक्ति जो विषमता का कारण बन सकते हैं, अधिकतर स्वभावः यानी वे कुटिल स्वभावी तो होते हैं और वे व्यक्ति जो समाजवाद में समावृत्त रहने हैं, वे विषमता को और सधरियों के लीके द्वारा प्रकृतिकता के घनान्त पर लाते हैं । समाज में समाज के सभी वर्गों पर इस विषमता का प्रभाव होता है - है समाज में ही ।

जहाँ हम व्यक्ति का चरित्र ऊँचा उठाना चाहते हैं, उसे नीतिमान् व अमवशील बनाना चाहते हैं, वहाँ इस व्यवस्था में वह सभी प्रकार से अनैतिक और असयमी बनने के रास्ते पर दीडने लगता है तब भगवान महावीर की गृहस्थो के लिए नियोजित अणुव्रत व्यवस्था की उपयुक्तता एवं सत्यता और अधिक स्पष्टता से निखर उठती है। महावीर ने मूल रोग ममत्त्व को पकड़ा और यदि ममत्त्व को इस प्रकार मर्यादित कर दिया जाय व इसे निरन्तर घटाते रहने का क्रम बनाया जाय तो निश्चित रूप से समाज में एक कुटुम्ब का सा भ्रातृत्व व समता का भाव फैलेगा तथा धर्म के क्षेत्र में निष्काम निवृत्तिवाद का प्रसार होगा जिसका उपदेश भगवान महावीर ने दिया।

इसलिए सम्पत्ति पर स्वामित्व घटे और हटे, तभी शुद्ध मानो में जाकर ममत्त्व बुद्धि का सफाया हो सकता है। साधु जीवन एक तरह उस आदर्श का चित्र है जहाँ किसी भी प्रकार की सम्पत्ति पर उसका किसी भी रूप में स्वामित्व नहीं होता और इसीलिए उसके लिए किसी भी पदार्थ पर ममत्त्व रखना वर्ज्य है बल्कि स्वयं ही स्वामित्व के अभाव में ममत्त्व बुद्धि के आने का रास्ता ही बन्द हो जाता है। यह तो दुनिया में चारों ओर देखा जाता है कि सम्पत्ति पर व्यक्ति का स्वामित्व होने से सैकड़ों प्रकार से कलह एवं झगड़ों की उत्पत्ति होती रहती है। सम्पत्ति के नाम पर भाइयों का वैमनस्य देखा जाता है, भागीदारों से कलह पैदा होते हैं और पड़ोसियों से झगड़े हाते रहते हैं। कभी-कभी तो एक-एक इंच भूमि के लिए निकटस्थों के सर फूटते देखे जाते हैं। सारा समाज एक कुटुम्ब क्या बने, उनका एक छोटा-सा घटक, आज का कुटुम्ब भी इस व्यवस्था में सयुक्त और सशान्ति नहीं रह पाता। इस सारी विषमता और कलुपितता से त्राण पाने का एवं समाज सुव्यवस्था के साथ आत्मा की उन्नति करने का अभाव मार्ग है। भगवान महावीर का अपरिग्रहवाद जिसकी ओर आप लोगों का ध्यान जाये और उस मार्ग पर चलें तथा इसका प्रकाश सारे ससार में फैलाएँ। यह आज युग की माँग हो गई है।

“अहिंसा परमोधर्म” का पालन भी विना अपरिग्रह के स्वस्थ रीति

से करना संभव नहीं हो सकता। भगवान महावीर ने भी जब दीक्षा ली तो उन्होंने नारे वस्त्राभरणा त्याग कर अपने शरीर पर एक मात्र वस्त्र ही रखा था, उसे भी बाद में त्याग दिया। क्या भगवान महावीर आपसे कम सुकोमल थे? अरे, वे तो राज्य के महान् वैभव में अपार सुख-सुविधाओं के बीच रहने वाले राजकुमार थे, फिर भी कोई ममत्त्व उन्हें बाँध नहीं सका और आप कहते हैं कि 'हमारा निभाव सम्पत्ति के बिना कैसे हो?' पर मैं पूछता हूँ कि क्या वहिने मोती के हार पहने बिना जीवित नहीं रह सकती, जो सैकड़ों घोड़ों को मारकर प्राप्त किये जाते हैं? रेसमी और सुन्दर वस्त्रों की जगह यदि खादी पहनी जाय तो क्या शरीर ध्य हो जायगा? बड़े-बड़े बगलों की दवाय भौपटी का आनन्द लिया जाय तो वह निराला होगा। आप एक ओर बड़ी बड़ी तपस्याएँ करते हैं और दूसरी ओर परिग्रह के पीछे पड़े रहते हैं। क्या यह उस तपस्या को लज्जित करना नहीं है? निष्परिग्रही महावीर के अनुयायी शरीरों का खून चूसते रहे। यह स्वयं महावीर को लज्जित करने जैसा कार्य है।

मैं आपको शर्भीरता में कहना चाहता हूँ कि आप अधिक न बन सकें तो कम-से-कम यह प्रतिज्ञा तो आज के दिन अवश्य करें कि आप किसी पर मुकद्दमा नहीं करेंगे और श्रेणी सम्पत्ति के कारण अपने भाइयों के बीच में कलह का बीज कतई नहीं बोएंगे। मैं आपसे पूछूँ, राम का नाम क्यों प्रसिद्ध है? क्या वे दशरथ के पुत्र थे इसलिए? नहीं, उनसे बड़ी बात की उन्होंने अपने जीवन में कि वे अपने भाई के लिए सारा राज्य त्याग कर वन में चले गये। महावीर और राम जैसे महापुरुषों की जन्मदिना समारोह मनाया तथा सफल माना जा सकता है, जब उन महापुरुषों के जीवन के आदर्शों को अपने जीवन में उतारे दरजा से समारोह वर्गा सनाता नद नाटक रूप माना जायगा और उनसे अपनी आत्मा में कोई जागरण पैदा नहीं होगी।

आज के साम्यवाद समाजवाद अपरिग्रह सिद्धान्त के ही रूपान्तर हैं। यदि चैत अपरिग्रह का शिष्यात्मक रूप जैनी भी अपने जीवन में उतारे तो वे अपने जीवन में तो आनन्द का अनुभव करेंगे ही—साथ ही सारा दुनिया में

जहाँ हम व्यक्ति का चरित्र ऊँचा उठाना चाहते हैं, उसे नीतिमान् व अश्वशील बनाना चाहते हैं, वहाँ इस व्यवस्था में वह सभी प्रकार से अनैतिक और असयमी बनने के रास्ते पर दौड़ने लगता है तब भगवान् महावीर की गृहस्थों के लिए नियोजित अणुव्रत व्यवस्था की उपयुक्तता एवं मत्तता और अधिक स्पष्टता से निखर उठती है। महावीर ने मूल रोग ममत्त्व को पकड़ा और यदि ममत्त्व को इस प्रकार मर्यादित कर दिया जाय व इसे निरन्तर घटाते रहने का क्रम बनाया जाय तो निश्चित रूप से समाज में एक कुट्टम्ब का सा भ्रातृत्व व समता का भाव फैलेगा तथा धर्म के क्षेत्र में निष्काम निवृत्तिवाद का प्रसार होगा जिसका उपदेश भगवान् महावीर ने दिया।

इसलिए सम्पत्ति पर स्वामित्व घटे और हटे, तभी शुद्ध मानो में जाकर ममत्त्व बुद्धि का सफाया हो सकता है। साधु जीवन एक तरह उस आदर्श का चित्र है जहाँ किसी भी प्रकार की सम्पत्ति पर उसका किसी भी रूप में स्वामित्व नहीं होता और इसीलिए उसके लिए किसी भी पदार्थ पर ममत्त्व रखना वर्ज्य है बल्कि स्वयं ही स्वामित्व के अभाव में ममत्त्व बुद्धि के आने का रास्ता ही बन्द हो जाता है। यह तो दुनिया में चारों ओर देखा जाता है कि सम्पत्ति पर व्यक्ति का स्वामित्व होने से सैकड़ों प्रकार से कलह एवं झगड़ों की उत्पत्ति होती रहती है। सम्पत्ति के नाम पर भाइयों का वैमनस्य देखा जाता है, भागीदारों से कलह पैदा होते हैं और पड़ोसियों से झगड़े हाते रहते हैं। कभी-कभी तो एक-एक इंच भूमि के लिए निकटस्थों के सर फूटते देखे जाते हैं। सारा समाज एक कुट्टम्ब क्या बने, उमका एक छोटा-सा घटक, आज का कुट्टम्ब भी इस व्यवस्था में सयुक्त और सशान्ति नहीं रह पाता। इस सारी विषमता और कलुपितता से त्राण पाने का एक समाज सुव्यवस्था के साथ आत्मा की उन्नति करने का अबाध मार्ग है। भगवान् महावीर का अपरिग्रहवाद जिसकी ओर आप लोगों का ध्यान जाये और उस मार्ग पर चलें तथा इसका प्रकाश सारे ससार में फैलाएँ। यह आज युग की माँग हो गई है।

“अहिंसा परमोधर्म” का पालन भी बिना अपरिग्रह के स्वस्थ रीति

से करना सभव नहीं हो सकता। भगवान महावीर ने भी जब दीक्षा ली तो उन्होंने सारे वस्त्राभरण त्याग कर अपने शरीर पर एक मात्र वस्त्र ही रखा था, उसे भी बाद में त्याग दिया। क्या भगवान महावीर आपसे कम सुकोमल थे? अरे, वे तो राज्य के महान् वैभव में अपार सुख-सुविधाओं के बीच रहने वाले राजकुमार थे, फिर भी कोई ममत्त्व उन्हें बाँध नहीं सका और आप कहते हैं कि 'हमारा निभाव सम्पत्ति के बिना कैसे हो?' पर मैं पूछता हूँ कि क्या बहिने मोती के हार पहने बिना जीवित नहीं रह सकती, जो सैकड़ों घोषों को मारकर प्राप्त किये जाते हैं? रेशमी और सुन्दर वस्त्रों की जगह यदि खादी पहनी जाय तो क्या शरीर क्षय हो जायगा? बड़े-बड़े बंगलों की बजाय झोपड़ी का आनन्द लिया जाय तो वह निराला होगा। आप एक ओर बड़ी बड़ी तपस्याएँ करते हैं और दूसरी ओर परिग्रह के पीछे पड़े रहते हैं। क्या यह उस तपस्या को लज्जित करना नहीं है? निष्परिग्रही महावीर के अनुयायी गरीबों का खून चूसते रहे। यह स्वयं महावीर को लज्जित करने जैसा कार्य है।

मैं आपको गम्भीरता से कहना चाहता हूँ कि आप अधिक न बन सकें तो कम-से-कम यह प्रतिज्ञा तो आज के दिन अवश्य करें कि आप किसी पर मुकद्दमा नहीं करेंगे और ओछी सम्पत्ति के कारण अपने भाइयों के बीच में कलह का बीज कतई नहीं बोएँगे। मैं आपसे पूछूँ, राम का नाम क्यों प्रसिद्ध है? क्या वे दशरथ के पुत्र थे इसलिए? नहीं, उससे बड़ी बात की उन्होंने अपने जीवन में कि वे अपने भाई के लिए सारा राज्य त्याग कर बन में चले गये। महावीर और राम जैसे महापुरुषों की जयन्ती समारोह मनाना तभी सफल माना जा सकता है, जब उन महापुरुषों के जीवन के आदर्शों को अपने जीवन में उतारें वरना ये समारोह बगैरा मनाना सब नाटक रूप माना जायगा और इनसे अपनी आत्मा में कोई जागरण पैदा नहीं होगी।

आज के साम्यवाद, समाजवाद अपरिग्रह सिद्धान्त के ही रूपान्तर हैं! यदि चेत् अपरिग्रह का क्रियात्मक रूप जैनी भी अपने जीवन में उतारें तो वे अपने जीवन में तो आनन्द का अनुभव करेंगे ही—साथ ही सारा दुनिया में

एक नई रोशनी, नया आदर्श भी उपस्थित कर सकेंगे, क्योंकि अपरिग्रह का सिद्धान्त साम्यवाद व समाजवाद के लक्ष्यों की तो पूर्ति कर देगा किन्तु उनकी बुराइयों को भी चरित्र एवं समय की आधारशिला पर नागरिकों को खड़ा करके पनपने नहीं देगा ।

इसलिए मैं आपसे कहता हूँ कि आप अपरिग्रही बन्धु और महावीर के गौरवान्वित नाम के गौरव को और अधिक बढ़ाइये । यह बाहर का वैभव बाहर और अन्दर दोनों को डुबाने वाला है अतः अन्दर के वैभव को बढ़ाइये और उसको समृद्ध करिये । भगवान् महावीर ने भी अपने पहले फैले हुए असत्य, हिंसा के प्रवाह, एकान्ती विचार एवं परिग्रही ममत्त्व के अंधेरे को अपने ज्ञान के आलोक से विनष्ट किया, उसी रोशनी की मसाल को आप फिर से ऊपर उठाइये और आप देखेंगे कि आपकी उन्नति का निष्कटक पथ स्पष्ट दिखाई दे रहा है ।

लोदी रोड, दिल्ली

दि० १५-४-५६

शास्त्रों के चार अनुयोग

मानव का उद्देश्य अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ते जाना है और चरम विकास के रूप में एक दिन स्वयं के जीवन को परम प्रकाशमय बना लेना है। जीवन के अन्धकार का आकाशदीप या प्रकाशस्तम्भ निर्मल ज्ञान है, क्योंकि सम्यक् ज्ञान ही की दृष्टि से अपने विकास पथ का यथार्थतया अवलोकन किया जा सकता है। जिन महापुरुषों ने अपने जीवन में उच्चतम विकास प्राप्त किया, उन्होंने अपने ज्ञान और अनुभव के सफल संयोग से उत्थान की जो ठोस राहें बताईं, वे ही आज हमारे सामने शास्त्रोक्त सिद्धान्तों के रूप में उपस्थित हैं। शास्त्रों की पूर्ण प्रामाणिकता, वास्तविकता एवं वैज्ञानिकता में शक व अशक्य विश्वास करने का यही कारण है कि इनके निर्माताओं का ज्ञान व अनुभव उतना ही विशाल, सजग एवं सुदृढ़ था। इसलिए हजारों वर्ष बाद भी वह शास्त्रोक्त ज्ञान हमें हमारे अन्धकार से प्रकाश की ओर उन्मुख करने में ज्योतिर्मय प्रेरणा प्रदान करता है।

तो यहाँ मैं आपके सामने आपकी प्रदर्शित इच्छा के अनुसार यह बताने जा रहा हूँ कि जैन शास्त्रों में चरम विकास की क्या स्थिति है, उसकी पूर्व भूमिकाएँ क्या हैं तथा किन-किन सीढ़ियों से शास्त्रोक्त ज्ञान विकास की मजिल की ओर धागे बढ़ाता है ?

प्रधानतया धार्मिक सिद्धान्तों का लक्ष्य आत्मविकास करना होता है इसलिए ज्ञान, वैराग्य, तप आदि वैयक्तिक साधना के साधनों का इनमें सविस्तार वर्णन भी होता है। इन सिद्धान्तों की कसौटी भी यही है कि कौन सिद्धान्त विकास के लिए कितनी बलवती प्रेरणा दे सकता है और पतन के समय उसे जागृत कर सत्य मार्ग पर ले आता है ? इस दृष्टि में कहना चाहेंगे कि जैन सिद्धान्त व्यक्ति के हृदयपटल की सूक्ष्म गहराइयों में प्रवेश करते हैं और उसे अपने पतन से सावधान करते हुए उत्थान की ओर अग्रसर

बनाते हैं। इन विकासोन्मुखी परिस्थितियों का जैन शास्त्रो में बड़ी ही सुन्दर रीति से विवेचन किया गया है। यहाँ मैं आप लोगों को थोड़ा उपालम दूँ कि आप ऊँचा-से-ऊँचा व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, बी० ए०, एम० ए० या डॉक्टर आदि बन जाते हैं किन्तु आत्मविकासक ज्ञान सीखने की ओर खास ध्यान नहीं देते। कोरे अर्जन करने की कला सीखते हैं, पर अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ने की कला से अग्रर द्विलकुल अनभिज्ञ रह गये तो आप ही सोचिये कि जीवन को सफल बनाने के लिए केवल अन्धकार आपकी कैसे सहायता कर सकेगा। आज आप लोगों का कर्तव्य है कि जैन सिद्धान्तों की सूक्ष्मता को स्वयं समझे, मनन करे और उन्हें नवीन रूप में जगत् के सामने रखें। सिद्धान्तों के इस तरह के अत्यल्प प्रचार को देखकर मुझे दुःख होता है कि आप जैन विद्वानों के समक्ष भी जैन सिद्धान्तों का प्रारम्भिक रूप मुझे बताना पड़े। मैं आशा करूँ कि वर्तमान अशान्त अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में जैन सिद्धान्तों का वास्तविक मूल्यांकन कर उन्हें ठीक रूप में प्रचारित करने का लक्ष्य बनाया जायगा। मेरे सामने काफी अजैन विद्वान् भी बैठे हुए हैं और मेरा उनसे भी यही कथन है कि अब साम्प्रदायिकता का वह युग नहीं, अब तो शुद्ध सैद्धान्तिक भूमि पर विभिन्न दर्शनों के विभिन्न सिद्धान्तों को गम्भीरतापूर्वक समझना चाहिए और उनमें से जिन सिद्धान्तों द्वारा व्यापक सर्वहित सम्पादित करना संभव दिख पड़े, उन्हें प्रसारित व प्रचारित करने में अपना योग देना चाहिए। 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्'—जैसी जहरीली बातों का तो आज कोई भी सभ्य आदमी चर्चा तक नहीं कर सकता। सत्य चाहे जहाँ मिले, जिज्ञासु वहाँ चला ही जायगा। अपना ही सत्य और दूसरों का सब अमत्य—ऐसी मनोवृत्ति को फँसा कर अपने अनुयायियों को विस्तृत ज्ञान सम्पादन से रोकना भी मैं तो अपनी ही कामजोरी का एक कारण समझता हूँ।

हाँ तो जैन शास्त्रों का विषय परिचय कराने के लिए इन्हे चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. प्रथम—प्रथमानुयोग या धर्मकयानुयोग

२. द्वितीय—गणितानुयोग

३. तृतीय—घरणकरणानुयोग

४. चतुर्थ—द्रव्यानुयोग

अनुयोग का अर्थ है व्याख्यान या विवेचन। जैन समाज का कोई भी सम्प्रदाय हो, उनके समस्त ग्रन्थों में इन्हीं विषय प्रणालियों से विवेचन किया गया है, क्योंकि सारे साम्प्रदायिक भेद तो भगवान् महावीर के भी अनेक वर्षों के बाद उत्पन्न हुए हैं।

प्रथमानुयोग का अर्थ कथा-साहित्य के व्याख्यान से है। जैन-ग्रन्थों में तात्त्विक एवं विकासकारी बातों को समझाने के लिए स्थान-स्थान पर कथाओं का उल्लेख किया गया है। कथाओं की प्रणाली ही सिद्धान्तों को इतना लोकप्रिय बना सकी है, क्योंकि इसके द्वारा उक्त सिद्धान्त की जानकारी अत्यन्त ज्ञान व समझ वाले को भी आसानी से कराई जा सकती है। इसलिए जैन-शास्त्रों से कथाओं द्वारा आत्मा, परमात्मा, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि गूढ तत्वों का भी ज्ञान बड़ी सरलतापूर्वक हो जाता है। दूसरे कथाओं की प्रणाली में एक तरह की सरसता व प्रेरणाशीलता भी होती है। महापुरुषों की जीवगाथाओं से जीवन में सन्मार्ग पर प्रवृत्त होने की एक बलवती प्रेरणा मिलती है। उनके जीवन के उत्थान-पतन के संघर्ष और प्रगति की निष्ठा कथाओं के रूप में श्रोता के हृदय पर अत्यधिक प्रभाव छोड़ती है। इस तरह हमारे शास्त्रीय दृष्टान्त पतन में जागरण व उत्थान में विचारणा प्रदान करते हैं।

जैन धर्म का कथा-साहित्य, जो कि वास्तव में साहित्यिक क्षेत्र में अभी तक पूर्ण रूप से प्रकाश में नहीं लाया गया है, विश्व के कथा-साहित्य में अनुपम है। जैन-कथानक की यह सबसे बड़ी विशेषता रही है कि इनमें यथार्थ व आदर्श का मिश्रित रूप का इस सुन्दरता से चित्रण किया गया है कि पाठक को पतन से जागृत करते हुए इसमें उसे विकास का प्रेरणा-स्रोत मिलता है। कथानक कहीं भी असंगत व अस्वाभाविक नहीं होता। अधिकतर धार्मिक कथानकों में काफी अत्युक्तियाँ व काल्पनिक वर्णन पाया

जाता है, लेकिन वह दोष जैन-कथानकों में नहीं है। दूसरे, इन कथानकों में स्वाभाविक रूप से मर्यादा का भी निर्वाह किया गया है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण दूँ कि तुलसीकृत रामायण में सीताहरण के समय राम को स्वर्ण-मृग में लुब्ध बन कर भागने का उल्लेख है, जो वास्तव में राम की मर्यादा को भंग करने जैसी वस्तुस्थिति है। राम जैसा महापुरुष स्वर्ण-मृग की सुन्दरता में लुब्ध बन कर या अपनी पत्नी के कथन से वास्तविकता को भूलकर एक निर्दोष प्राणी को मारने दौड़े, यह वर्णन स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। जैन रामायण में सीताहरण के उल्लेख में यह वर्णन है कि उस समय लक्ष्मण खरदूपण राक्षसों से युद्ध करने गये हुए थे और वहाँ एक राक्षस ने लक्ष्मण की आवाज में जोरों से 'राम-राम' पुकारा तो उम करुण ध्वनि को सुनकर सीता ने राम को जाने के लिए आग्रह किया कि अवश्य ही लक्ष्मण पर कोई विपत्ति आ गई है। यह वर्णन महापुरुषों की अहिंसा व उच्चवृत्ति के अनुकूल पूर्णतया स्वाभाविक कहलायगा। निर्दोष पशुओं की महापुरुष द्वारा शिकार करने के तथ्य को प्रचारित कर क्या गाज भी प्राणी अहित का उत्तेजना नहीं मिलती? कई बार राजपूतों के रामने मैं शिकार का त्याग करने की बात कहता हूँ तो वे कह उठते हैं कि महाराज, शिकार तो क्षत्रियों का धर्म है, राम ने भी तो किया था। आप सोचते होंगे कि मैं एक ऐतिहासिक कथा को असत्य सिद्ध करने की कोशिश कर रहा हूँ, पर धर्म कथा साहित्य ही वह है, जिससे सत्य व सर्व-कल्याण का ही बोध हो। राजा दशरथ के पुत्र हुए, सीताहरण हुआ, वे न्यायी व मर्यादा-पुरुषोत्तम थे, यह सब ठीक, किन्तु मैं आपको बताता हूँ कि मान्यता में विभेद कहीं और कैसे पड़ता है? राम सीता की एक-सी ही मूर्तियों को गुजरात, दक्षिण, राजस्थान व बंगाल में अपने-अपने प्रचलित देश के अनुसार ही अलग-अलग पोशाकें पहनाई जाती हैं, किन्तु वे असल पोशाकें तो नहीं क्योंकि असल का ज्ञान तो उस समय की देशकाल की परिस्थिति के अनुसार ही होगा। बाकी लोगों ने अपनी कल्पना के मुताबिक पोशाकों की रचना

१५, उसी प्रकार शिकार या ऐसे मर्यादा निर्वाह के अन्य विषयों के सम्बन्ध

मे भी विवेकपूर्वक समझना चाहिए कि ये महापुरुष 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' सिद्धान्त के महान् प्रचारक थे, वे कैसे निर्दोष प्राणियों के क्रूर हनन का विचार तक भी कर सकते हैं ? अस्तु मेरा तात्पर्य यह है कि जैन कथानको मे स्वाभाविकता व सैद्धान्तिकता का पूरा-पूरा निर्वाह किया गया है ।

जैन कथा-साहित्य की एक-एक कथा जीवन विकास का ज्वलन्त रत्न है । गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर घषकते हुए अगारे रख दिये जाने पर भी जिस ज्ञान्ति व रखने वाले सोमिल ब्राह्मण के प्रति सद्भावना का उल्लेख है, वह निश्चय पाठक के हृदय में भी महान् क्षमा व सहनशीलता का भाव भरता है । हजार से ऊपर मनुष्यों को अपनी गदा से मौत के घाट उतारने वाला अर्जुन माली जब सुदर्शन की दिव्य आत्म-शक्ति के समक्ष अपनी आत्म-चेतना को सजग बना लेता है तो वह दृश्य किसे अपने भारी-से-भारी पतन से भी उठने की प्रेरणा न देगा ? चेड़ा महाराज व्रतधारी होते हुए भी अन्याय का प्रतिकार करने के लिए महान् सग्राम में जूझ पड़ते हैं, यह कथानक फायरता को कहां स्थान देता है । इसी प्रकार आनन्द, आदि सद्गृहस्थों की व्यवहारिक आदर्शों भरी कथाएँ जीवन में प्रगतिकारी ज्ञान्ति को जन्म देती है । सक्षेप में यही कहना है कि जैन कथाएँ जैन-नरकृति को अपने यथार्थ रूप में पर अत्यन्त सरलतापूर्वक प्रदर्शित करती हैं ।

दूसरा अनुयोग है गणितानुयोग, जिसमें स्वर्ग, नरक, द्वीप, समुद्र आदि से सयुक्त चौदह राजू के विशाल लोक का विवरण है । गणित के इनके आँकड़ों को समझने के लिए आज हमारे में वह जानकारी न रही हो व माप-तोल के भी पैमाने बदल गये हों वह दूसरी बात है, किन्तु जिस दारीक व विस्तार से सारे खगोल व भूगोल का आँकड़ोपूर्वक वर्णन किया गया है, वह आश्चर्य का विषय है । गणितानुयोग की कई बातें तो आज भी वैज्ञानिक जगत् में प्रकाश में आई हैं और जब तक अन्य बातें असत्य सिद्ध न की जा सके, तब तक उनमें अविश्वास जाहिर करना अपने ही ज्ञान का अभाव साबित करना है । जैसे हमारे यहाँ उल्लेख है कि शब्द तीव्र गति वाले होते हैं । ध्वनि जो एक ने उच्चरित की है, वह सारे लोक में फैलकर प्रतिध्वनित

होती हुई पुन उसी के कानो मे गिरती है। वैसे इस वात की हँसी उडाई जा सकती थी, किन्तु वर्तमान विज्ञान की इस सम्बन्ध मे सफल खोजो के बाद यह स्थिति नही रही। वैज्ञानिको ने ध्वनि को तीव्र गति वाली सावित कर दी है, बल्कि रेडियो द्वारा उसे नियन्त्रित रूप से सर्वत्र पहुँचाया भी जा रहा है। इसी तरह अन्य कई तथ्य हैं, जिन्हे “जैन सिद्धांतो मे वैज्ञानिक तत्त्व” शीर्षक के नीचे ही विस्तार से समझाया जा सकता है। इनमे अणु-विज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि कई तत्त्व हैं।

जैन जिसे चौदह ‘राजु’ लोक कहते है, वैष्णव उसे चौदह लोक और मुसलमान चौदह तलव बताते हैं। इसी प्रकार अन्य कई बातें हैं इस गणितानुयोग की—जो दूसरो की मान्यताओ से भी मेल खाती हैं। आज स्वर्ग व नरक के लम्बे वर्णानो से नवयुवको मे अश्रद्धा उत्पन्न होती है, किन्तु वे प्रकृति के व्यवस्थाबद्ध क्रम को नही समझना चाहते। आपके लौकिक व्यवहार मे भी तो कुछ ही सैकडो मे जो किसी मनुष्य की हत्या कर डालता है, उसे फल कितना लम्बा भुगताया जाता है—आजीवन कारावास। अगर यहा भी यह व्यवस्था है तो प्रकृति के कार्यों मे कोई इसके लिये व्यवस्था नही। दूसरे स्वर्ग, नरक का वर्णन उनके वर्णन मात्र की दृष्टि से प्रमुख नही, बल्कि जिस तरह आज के न्याय-दण्ड का एक लक्ष्य उदाहरणात्मक होता है उसी तरह इनके वर्णानो से आत्मा यह सोचने का प्रयास करे कि हत्या करने पर यह सजा होगी और घोखादेही के मामले मे अमुक दफा लगेगी तथा उसके बाद अपने आपको वह दुष्कर्मों से बचा सके। इसके विपरीत स्वर्ग का वर्णन उसे सत्कर्मों की ओर प्रेरित करता है। जैसे वायु के उतार-चढाव व दबाव को मापने का पैमाना दूसरा होता है और सोना-चादी तोलने का दूसरा—एक ही काँटे से दोनो का माप-तोल नही लिया जा सकता, उसी तरह विज्ञान की अभी भी अपूर्ण स्थिति मे इन तथ्यों से अविश्वास पैदा कर लेना उचित नही कहला सकता। यह सुनिश्चित है कि यह सारी गणित भी गणित के लिए नही बनी है, बल्कि उसका मूल उद्देश्य भी जीवन-विकास मे सहयोग देना ही है। अत इम गणितानुयोग का भी उसा

दृष्टि से ही मूल्यांकन करना चाहिए ।

तीसरे चरणकरणानुयोग मे जैनागमो मे विस्तार पूर्वक चरित्र-चित्रण का व्याख्यान किया गया है । ज्ञान की महत्ता चारित्र्य के साथ ही कही गई है । बिना चारित्र्य के ज्ञानी की उपमा शास्त्रो मे चन्दन के भार को वहन करता हुआ भी गधा जैसे उसकी सुगन्ध को नहीं समझता, वह तो उसे भार की तरह ही उठाये फिरता है, उसी तरह आचरणहीन ज्ञान भी भार रूप ही है । ज्ञान और चारित्र्य के सगम से ही मनुष्य अपने अन्तिम ध्येय तक पहुँच सकता है । ज्ञान के बिना चारित्र्य अन्धा है और चारित्र्य के बिना ज्ञान लँगड़ा, अत अन्धे और लँगड़े के सहयोग करने से ही दोनों का त्राण हो सकता है । आचरणहीन ज्ञान की तरह ही शास्त्रो मे ज्ञानहीन आचरण को भी महत्त्व नहीं दिया गया है । बिना सम्यक् ज्ञान के की जाने वाली कठोर-तम क्रियाएँ भी चारित्रिक विकास का कारण नहीं बन सकती । लोभी व्यक्ति भी अपने धनार्जन के लिए साधु की तरह शीत, ऊष्ण वर्षा के कष्ट सह सकता है, पर उनका कोई महत्त्व नहीं । जैसे बिना सुवास के पुष्प का मोल ही क्या ? उसी तरह आत्म-भावना बिना तपादिक की कियाएँ आत्म-विकास मे सहायक नहीं हो सकती । दशवैकालिक मूत्र मे स्पष्ट कहा है कि तपस्यादि आचार का पालन न तो इस लोक मे प्रगसा प्राप्त करने के हेतु करे, न परलोक के सुखो की प्राप्ति के लिए । किन्तु केवल अपने आत्म विकास के लिए पूर्ण निष्काम भाव से ही करे ।

जैन शास्त्रो मे ऐसी किसी भी क्रिया का विधान चारित्र्य की श्रेणी मे नहीं किया गया है, जिससे किसी भी रूप मे मानसिक, वाचिक या कायिक हिंसा होती हो । यज्ञ, द्रव्य पूजा आदि का तो भगवान् महावीर ने खण्डन किया है । भाव-यज्ञ और भाव-पूजा का ही विधान सर्वत्र पाया जाता है । आत्म-विकास हित गति करने की विभिन्न श्रेणियाँ हमारे यहाँ कायम की गई हैं और तदनुसार ही चारित्र्य पालन की श्रेणियों का ही विवेचन किया गया है । सारे सासारिक व्यामोहो को छोडकर पूर्ण रूप से स्वपर कल्याणहित प्रगमन करने वाले पथिको के लिए साधु चारित्र्य या अणुगार

धर्म का वर्णन है, किन्तु उन लोगों के लिए जो साधारण क्षेत्र में रहते और भोगते हुए भी अपने जीवन को मर्यादाशील बनाना चाहते हैं। श्रावक-चारित्र्य या आगार-धर्म का वर्णन किया गया है।

धर्मण या साधु चारित्र्य में हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन व परिग्रह का मन, वचन व काया से सर्वथा परित्याग किया जाता है, बल्कि इन कार्यों के करवाने व अनुमोदन तक करने का भी निषेध किया गया है। ये इनके पांच महाव्रत कहलाते हैं। इसी तरह श्रावक-गृहस्थ के लिये अपने नैतिक जीवन को सन्तुलित बनाये रखने के लिए वारह व्रतों का विधान है जिनमें पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। इनका अति सक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

- ५ अणुव्रत—१ निरपराध जीवों को उनके प्राणनाश करने के सकल्प से न मारना व न त्रास देना। अपने आश्रित मनुष्य या पशु को भूखा रखना या उनकी शक्ति से अधिक काम लेना भी हिंसा में ही सम्मिलित किया गया है। परन्तु अपराधी व सूक्ष्म जीवों का त्याग गृहस्थ को अशक्य होता है।
 - २ सामाजिक दृष्टि से निन्दनीय या दूसरों को कष्ट पहुँचावे इस प्रकार भाषण नहीं करना। झूठी गवाह, झूठे दस्तावेज या अन्य रूप में मोटा झूठ बोलने का त्याग।
 ३. राजा या कानून दंड दे या लोक निन्दा हो ऐसी चोरी न करना तथा बिना आज्ञा किसी भी चीज को उठाने का त्याग।
 ४. स्वस्त्री के सिवाय अन्य स्त्री के साथ अनुचित सम्बन्धों का त्याग अर्थात् मर्यादित ब्रह्मचर्य का विधान।
 ५. गृहस्थी की आवश्यकतानुसार धन, धान्य, सोना, चाँदी, भूमि आदि व व्यापार आदि से प्राप्त लाभ तक को भी सीमित एवं मर्यादित करना।
- । पाँच अणुव्रतों की रक्षा के लिए ही शिक्षा व गुणव्रतों का विधान

है। साधु व श्रावक के ये पाँचो व्रत एक ही है, सिर्फ त्याग की न्यूनाधिकता के कारण 'महा' व 'अणु' विशेषण लगाये गये हैं। इन बारह व्रतों का स्वरूप इस तरह बनाया गया है कि इनका पालन समुचित रूप से एक राष्ट्र-पति भी कर सकता है तथा एक अति साधारण गृहस्थ भी। चेडा महाराजा ने भयकर सशाम करते हुए भी अपने बारह व्रतों को पूरी तरह निभाया था। आज के नैतिक विशृंखलता के युग में इन व्रतों के सम्यक् पालन से न सिर्फ योग्य एव नीति सम्पन्न नागरिकों का ही निर्माण किया जा सकता है, बल्कि समाज की विभिन्न जटिल समस्याएँ भी बड़ी आसानी से इनके द्वारा सुलझाई जा सकती हैं।

कई लोग जैनो द्वारा वर्णित चारित्र्य धर्म को सिर्फ निवृत्ति व प्रवृत्ति-का ही रूप बताते हैं किन्तु जैन धर्म निवृत्ति व प्रवृत्ति-उभय रूपक है। प्रवृत्ति के बिना निवृत्ति का कोई अर्थ ही नहीं होता। प्रसत् से निवृत्ति करने के लिए सत् में प्रवृत्ति करनी ही पड़ेगी। जैनागमों में जहाँ बुराई के त्याग का वर्णन है, वही अच्छाई के आचरण का भी। 'कु' को 'सु' में बदल देना ही सच्चा आचरण है। जैन दर्शन में सहजिक योगसुमति का वर्णन है, जिसका अर्थ ही है कि सम्यक् प्रकार से गति करना।

इस तरह चरणकरणानुयोग में दान, शील, तप, भावना रूप चारित्र्य का भी सागोपाग दिव्यत वर्णन किया गया है। वर्णित आचरण के अनुसार जो अपने जीवन को ढाल लेता है, उस आत्मा का चरम विकास सुनिश्चित बताया गया है। इस सारे आचरण का मूल हमारे यहाँ विनय को कहा गया है—“विणयो धम्मस्त मूलं”। इसका स्पष्टीकरण करने के लिए क्षमा, सन्तोष, नम्रता, सरलता, समय प्रादि दश भेद बताये हैं। तप में भी प्राभ्यन्तर तप प्रथान् प्रायश्चित्त, विनय, ध्यान, सेवा, कायोत्सर्ग और स्वाध्याय छः भेद तथा बाह्य-अनगन, ऊनोदरी, भिक्षाचरा, रस-परित्याग, कायाकलेग व प्रतिनलीनता—छः भेद बताये गये हैं। इन सबके आचरण से आत्मा का सुव्यवस्थित दिक्कान सम्पादित होता है।

अन्तिम चौथा अनुयोग द्रव्यानुयोग है। द्रव्य का लक्षण है—“उत्पाद-

व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” । जो उत्पन्न होने व नष्ट होने के बावजूद भी ध्रौव्य (स्थिर) है, वह द्रव्य है । द्रव्य छ. बताया गये हैं । (१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय व (३) आकाशास्तिकाय—ये तीन द्रव्य अरूपी हैं तथा क्रमशः गति, स्थिति एव अवकाश प्राप्त कराने में सहायक होते हैं । गति व स्थिति में सहायक तत्त्वों के सम्बन्ध में तो विज्ञान भी अब मानने लगा है । (४) काल द्रव्य-वस्तुतः कोई द्रव्य नहीं है किन्तु औपचारिक रूप से माना गया है । क्योंकि भूतकाल बीत चुका, वर्तमान हमारे सामने है व भविष्य उत्पन्न होगा, अतः इसमें द्रव्य का लक्षण घटित नहीं होता । (५) जीव व (६) पुद्गल द्रव्य हैं ।

जीव या आत्म द्रव्य का वर्णन जैन दर्शन में अतिस्पष्ट एव असंदिग्ध रूप से किया गया है । जीव की पर्याय अवस्थाएँ बदलती रहती हैं अतः उसका पूर्व पर्याय की दृष्टि से विनाश होता है व नवीन पर्याय की दृष्टि से विनाश होता है व नवीन पर्याय की दृष्टि से नई उत्पत्ति, परन्तु इन पर्यायों के परिवर्तन के बावजूद भी अपने रूप में आत्मा ध्रौव्य रूप में रहता है । जैसे एक सोने के कड़े को तुड़वाकर हार बनवाया तो सोना कड़े रूप पर्याय से नष्ट हुआ वह हार रूप पर्याय में उत्पन्न, परन्तु स्वर्णत्व की दृष्टि से वह ध्रौव्य रहा । पर्यायों में आकृति का रूपान्तर होता है, मूल स्वरूप में तो एकता ही विद्यमान रहती है । दूसरे वेदान्त मान्यता की तरह हमारे यहाँ आत्मा एक नहीं मानी गई है, किन्तु प्रत्येक प्राणी में स्वतंत्र आत्मा है तथा स्वतंत्र ही उसकी अपनी अनुभूतियाँ भी होती हैं । यही कारण है कि प्रत्येक प्राणी अलग-अलग दुःख या सुख का अनुभव करता है ।

इसके सिवाय आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्त शक्ति का अपार तेज रहा हुआ है, किन्तु यह तेज उसी तरह ढका हुआ है जिस प्रकार काले बादलों से ढक जाने पर सूर्य का ज्वलत प्रकाश भी छिप-सा जाता है । आत्मा की इन तेजमयी शक्तियों पर कर्म मूल की परतें चढ़ी हुई हैं । ये कर्म मुख्य रूप से आठ माने गये हैं । ये कर्म निम्न नहीं हैं । आत्मा जैसे कार्य करता है, तदनु रूप ही कर्मों का बन्ध होता है ।

पूर्व कर्मों की निर्जरा व नये कर्मों के बन्ध होने का यह क्रम इस सृष्टि में चलता ही रहता है, जब तक सारे कर्म खपाकर आगे के बन्ध को रोककर आत्मा का सर्वोच्च उत्थान प्राप्त नहीं कर लिया जाता। कर्मों के विभिन्न फलाफल के अनुसार ही जीव विभिन्न गतियों में भ्रमण करता रहता है। जैन दर्शन में पृथ्वी, पानी, वनस्पति, हवा व आग में भी एकेन्द्रिय जीव माने गये हैं, जिन्हें केवल स्पर्श की अनुभूति होती है। ये प्राणी भी उच्चतम विकास करते हुए मनुष्य, देव आदि योनियों तक पहुँच सकते हैं। मनुष्य और देव भी अधम कार्य करता हुआ एकेन्द्रियों के रूप में अपने आपको पहुँचा सकता है। यहाँ तो अपने कर्म के अनुसार गति की ऊँची नीची दिशा का निर्माण होना माना गया है। सर्वोच्च विकास में नीचा आत्मा भी शुद्ध बुद्ध रूप हो सकता है, जिसे सिद्ध या परमात्मा करते हैं। हमारे यहाँ ईश्वर का नियन्ता रूप नहीं माना गया है।

ससार का यह गतिचक्र जीव व पुद्गल के सयोग से चलता है, जिसे समझने के लिए जैनागमों में 'नव तत्त्व' का उल्लेख किया गया है। पुद्गल वर्ण, गंध, रस व स्पर्श युक्त है, जो जीव के साथ सम्बन्धित होकर ससार की वहरूपा माया की रचना करता है।

इसी द्रव्यानुयोग में छः लेश्याओं अर्थात् प्राणी के विभिन्न भावों की स्थिति का भी दिग्दर्शन कराया गया है तथा इसी तरह चौदह गुरु स्थानों का भी वर्णन है, जो आत्मा विकास की श्रेणियों के रूप में दिखाये गये हैं।

जैनधर्म में किसी भी पदार्थ या तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए नयवाद व स्याद्वाद की दृष्टि से देखना होता है, क्योंकि इनकी सहायता के बिना उसके विभिन्न पहलू नजर नहीं आवेंगे तथा प्राप्त ज्ञान सिर्फ एकान्तिक दृष्टिकोण वाला होगा।

जैन दर्शन ज्ञान का एक विशाल भंडार है, उसकी मैं आपको सिर्फ एक झलक मात्र दिखा सका हूँ और इसके बाद मैं आशा करूँ कि आप विद्वान् लोग इसके गहन अध्ययन और तत्त्व चिन्तन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।
सब्जी मण्डी, दिल्ली

जैन दर्शन का तत्त्ववाद

“सुज्ञानी जीवा भज ले रे जिन इक्कीसवां ...”

यह २१ वे तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ की प्रार्थना है। इसमें परमात्मा के भजन पर जोर दिया गया है और वह भी करने के लिए सुज्ञानी जीवों को सम्बोधित किया गया है।

जैन दर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि परमात्मा पद कोई अलग वस्तु-स्थिति नहीं बल्कि उसका स्वरूप आत्मा के ही परमोत्कृष्ट रूप में जाज्वल्यमान होता है। आत्मा पर लगा हुआ कर्म का क्लृप्त ज्यो-ज्यो घुलता जाय, गुण स्थान की सीढियों पर चढ़ता जाय, चरम स्थिति होती है कि वही परमात्मा पर पहुँच जाता है। आत्मा से परमात्मा की गतिक्रम रेखा है, एक ही मार्ग के दो सिरे हैं जिनमें कर्म स्वरूप भेद हैं, मूल भेद नहीं। हमारी यह मान्यता नहीं कि ईश्वर इस जगत् या कि जगद्बर्ती आत्माओं से प्रारम्भ ही में विलग रहा है और उसका जगत् की रचना से कोई सम्बन्ध हो। जगत् का क्रम कर्मानुवर्ती माना गया है और उसी अनुवर्तन में पुद्गल तथा आत्माएँ प्रेरित वा अनुप्रेरित होते हैं और चक्कर लगाते रहते हैं। आत्माएँ कर्म चक्र में फँसती हैं और धर्म वह आधारशिला है जिस पर चढ़कर वे इस चक्र से निकलने का पराक्रम भी करती हैं। इसी पराक्रम की सफलता का अन्तिम बिन्दु परमात्मा पद है।

इस दृष्टिकोण से परमात्मा को भजने का अव्यक्त अभिप्राय भी आत्मा को समझना, सँवारना और साधना पथ पर अग्रगामी बनाना ही मूलतः माना जायगा। इसीलिए इस प्रार्थना में सुज्ञानी जीवों को सम्बोधित किया गया है। जो जीव अज्ञानी हैं, उनमें तो पहले ज्ञान की ज्योति जगानी होगी कि वे आत्मा से लेकर परमात्मा के विकास क्रम को जाने और उसमें शास्थावनाएँ। क्योंकि इस जानकारी के बाद में ही साधना पथ पर गति

करना प्रारम्भ किया जा सकता है। जिन्हे यह जानकारी भी नहीं, उनको अज्ञानी कहा गया है और इसीलिए वे ज्ञान को कार्यान्वित करने में सक्षम नहीं माने गये हैं क्योंकि परमात्मा को भजने की पूर्व स्थिति उनमें उत्पन्न नहीं हुई है। जिस प्रकार से सिंहनी के दूध को यदि स्वर्ण पात्र के अलावा अन्य घातु के पात्र में ले लो तो पात्र टूक-टूक हो जायगा। स्वर्णपात्र में ही वह क्षमता है कि उस दूध को टिका सके। उसी प्रकार सुज्ञानी जीव ही क्षमता रखते हैं कि वे परमात्मा के भजन में अपने आपको योग्यतापूर्वक नियोजित कर सकें।

अब प्रश्न उठता है कि सुज्ञानी जीव कौन कहे जावें? आत्मा से परमात्मा तक के विकास क्रम का जिन्होंने ज्ञान प्राप्त किया है और ज्ञानी होकर उसमें अपनी आस्था जुटाई है, उन्हें सुज्ञानी कहा जायगा। धर्म और उसके दर्शन की जो घुरी है वह है आत्माका परमोत्कृष्ट विकास, इसलिए इस विकास का मूल है आत्मा! कैसी आत्मा? जो कि इस संसार के गतिचक्र में भ्रमण कर रही है अर्थात् जड़ पुद्गलो के संयोग से जन्म-मरण करती हुई बन्धानुबन्ध करती रहती है। तो उस आत्मा का विकास कैसे हो? कौन से कार्य है, जिनसे आत्मा की भूमिका में उठान पैदा होगी और वह उठान ऊपर-से-ऊपर चढ़ती हुई सासारिक सकट की जड़ को ही काट डालेगी, जड़ और चेतन का सम्बन्ध समाप्त हो जायगा।

यह जो समस्त ज्ञान है वही आत्मा की विकास गति को पूर्णतया स्पष्ट करता है और यही आचारगत ज्ञान है, जिसकी रोशनी में अन्य सारी विचार सरणियाँ विश्लेषित होती हैं। इसीलिए जैन-दर्शन में इस ज्ञान को दिशिष्ट महत्त्व दिया गया है उसे तत्त्वज्ञान कहते हैं और यही तत्त्वज्ञान सुज्ञानी का लक्षण है।

जैन शास्त्रों में इस तत्त्ववाद का बड़ा विशद् विवरण है और उसमें विस्तार में बताया गया है कि इन तत्त्वों पर ही आत्मा, परमात्मा और ससार की घुरी घूमती रहती है। यह तत्त्वज्ञान ससार के मूल से लेकर मुक्ति के मुख तक समाहित माना गया है।

इस समूचे तत्त्ववाद को नी भागो मे विभक्त किया गया है। यद्यपि अन्य दर्शनो मे कई तत्त्व माने गये है, किन्तु जैन दर्शन इन्ही नी तत्त्वो को सम्पूर्ण सृष्टि का आधार मानता है, इसलिए परमात्मा के भजन को हम सिर्फ नाम-स्मरण मे ही समाप्त नही मानकर तत्त्व-विचारणा तक ले जाते हैं। इन्ही तत्त्वो का मनन और चिन्तन करते हुए सुजानी जीव इस ससार के भ्रमण चक्र से निकल कर परमात्मा की स्थिति मे परिवर्तमान होते हैं, जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करते हैं।

अतः मैं आपको नी तत्त्वो का स्वरूप संक्षेप मे स्पष्ट करना चाहूँगा कि इस तत्त्वज्ञान की सीढी से हम भी आत्म विकास की दिशा मे अग्रगामी हो।

ये नी तत्त्व इस प्रकार हैं—१. जीव, २. अजीव, ३. बन्ध, ४ पाप ५ पुण्य, ६. आश्रव ७. सवर ८ निर्जरा, ९. मोक्ष।

मुख्यतया इन मे से दो तत्त्व प्रधान व महत्त्वपूर्ण हैं और वे हैं जीव व अजीव, जिन्हे अलग-अलग मतो मे जड-चेतन, ब्रह्म माया अथवा प्रकृति-पुरुष नामो से पुकारा गया है। इन दोनो तत्त्वो मे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पदार्थो का समावेश हो जाता है।

हाँ, भौतिकवादी इन तत्त्वो के बारे मे अपना मतभेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि जीव जैसा कोई तत्त्व नही होता। सिर्फ परमाणु अर्थात् जड होता है, वही विकास की सीढियाँ चढ़ता हुआ विभिन्न रूप धारण करता रहता है। यही परमाणु विकास करते-करते जीवाणु बनते हैं, जन्तुओ के आकार प्रकारो मे ढलते हैं और वानर से लेकर मानव तक का रूप बदलता रहता है और ये ही जीव-जन्तु व मानव मृत्यु की गोद मे जाते हुए पुनः जड-पुद्गल रूप मे बदल जाते हैं। इस प्रकार भौतिकवादी आत्मा जैसी किसी शक्ति को नही मानना चाहते, उनका मानना है कि जैसे आपकी शक्ति से रेलगाडी चलती है, बिजली से मशीनें चलती हैं, उसी प्रकार विभिन्न परमाणुओ के सम्मिलन मे जीव-जन्तु शक्ति प्राप्त करते हैं और अपना जीवन प्रदर्शित करते हैं किन्तु जब वे परमाणु फिर से विलग हो जाते हैं तो

जीवन समाप्त हो जाता है उसी प्रकार जिस प्रकार की भाषा सतम हो जाने पर इजिन ठप हो जाना है। वे जड को ही महत्व देते हैं।

किन्तु जैन दर्शन ऐसी विचारणा को मिथ्या मानता है। चेतन जड़ से विकसित नहीं होता, बल्कि एक अलग शक्ति होती है निराकार जो जड़ के साथ मिलकर ससार के विविध रूपों का निर्माण करती है। जड़ से जड़-परमाणु का विकास हो सकता है, चैतन्य का उससे कतई विकास नहीं हो सकता, क्योंकि जिस पदार्थ में जो सत्ता है ही नहीं, वह उसमें किसी कदर उत्पन्न नहीं हो सकती। रेल का इजिन जड़ है तो उसमें चेतन शक्ति न तो कभी उत्पन्न हो सकती है, न उसकी जड़ शक्ति कभी भी विकसित होकर चेतन में बदल सकती है। भौतिकवादियों की ऐसी धारणा न तो वास्तविक है, न बुद्धिगम्य ही। क्योंकि रजकणों को जीवन-पर्यन्त भी पेलते रहो तो भी कभी उनसे तेल नहीं निकल सकता, कारण कि तेल की सत्ता अर्थात् स्निग्धता का सद्भाव तिलों में है किन्तु रजकणों में नहीं है तो उसमें से वह सत्ता कभी भी प्रादुर्भूत नहीं हो सकती। अतः जैन दर्शन की मान्यता सत्य है कि चैतन्य शक्ति का विकास चैतन्य शक्ति से ही होता है तथा जड़ का सम्बन्ध छूट जाने पर चैतन्य शक्ति पुनः अपने मौलिक स्वरूप निखिल चैतन्यता में प्रज्वलित हो उठती है।

तो अब हम विचार करें कि जीवतत्त्व की परिभाषा क्या? जीव शब्द का पर्यायवाची है सच्चिदानन्द जिसमें तीन शब्द मिले हुए हैं, मत्त्विन् और आनन्द। सत् का अर्थ है—“कालत्रय तिष्ठति इति सत्” अर्थात् जो तीनों काल में स्थायी रहता है वह सत् है। मत् की यह भी व्युत्पत्ति है कि—“उत्पादव्ययध्रौव्य युषत सत्”, जो पर्याय बदलने की दृष्टि से पैदा हो, नष्ट हो जाय किन्तु द्रव्य रूप से नित्य व शाश्वत रहे वह मत् होता है। हमारे लिए यह मत् है कि हम भूतकाल में थे, वर्तमान में हैं और भविष्य में रहेंगे। इसमें तीनों वागों में द्रव्य रूप से आत्मा नित्य बना रहता है जो कि पर्याप्त रूप से एक ही जीवन में बाल, युवा, वृद्धत्व की प्रवस्थाएं बदलती हैं और एक जीवन के बाद दूसरा जीवन आत्मा धारण करता रहता है। तो जब

बाल्यकाल ही या कि वृद्धावस्था अथवा एक जीवन हो या कि दूसरा जीवन, इन सब अवस्थाओं में जिस एक रूप चैतन्य की अनुभूति होनी रहती है, वही आत्मा का रूप है, जीव की शक्ति है। शारीरिक दशाओं में अथवा जन्म-मरण की योनियों में परिवर्तन होता रहता है किन्तु आत्मा नहीं पलटता है। जैसे कि गीता में भी कहा है—

वासासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

देह में रहने वाला देह का अधिष्ठाता देह के बाल, युवा, व वृद्ध रूप में पलटने पर भी स्वयं नहीं पलटता है। शरीर की तो व्याख्या ही यह की गई है कि जो शनैः-शनैः क्षरण होता रहता है, क्षीणत्व को प्राप्त करता रहता है लेकिन उसमें व्याप्त, उसका दृष्टा आत्मा सदा काल शाश्वत रहता है। अतः उसे सत् माना गया है। इसमें भा एक तर्क उत्पन्न होता है कि क्या सत् उसे माना जाय जो त्रिकाल में स्थायी बना रहता है और वह सत् चैतन्य होता है तो सिर्फ यही व्याख्या शकास्पद हो सकती है क्योंकि जब भी त्रिकाल में बना रहता है तो क्या वह भी सत् होकर चैतन्य हो गया।

किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। चैतन्य का रूप जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, सत् चित् और आनन्द तीनों गुणों में पूर्णतया प्रकट होता है। जब मैं इस तरह सत् गुण तो हूँ किन्तु अन्य गुण तो नहीं हैं इसलिए वह चेतन नहीं कहला सकता।

चेतन का दूसरा गुण है चित् अर्थात् जो अपने से ऊपर साधन की अपेक्षा न रखते हुए स्वयं ही प्रकाशमान होकर दूसरों को भी प्रकाशित करता है। जैसे अंधकार में रखे हुए घट-पटादि को कोई व्यक्ति देखने लगे तो वह उन्हें देख नहीं सकेगा क्योंकि घट-पट में प्रकाशित होने की शक्ति नहीं, उन्हें बाहर के प्रकाश की अपेक्षा रहती है। अगर वह व्यक्ति दीपक लेकर वहाँ जावे तो उन घट-पटादि को देख सकेगा। अतः जिस प्रकार घट-पटादि को देखने के लिए दीपक की आवश्यकता होती है किन्तु स्वयं दीपक को देखने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि दीपक स्वयं

प्रकाशित होता है उसी प्रकार आत्मा स्वयं प्रकाशमान होता है तथा दूसरों को भी प्रकाशित करता है। हमें अनिष्ट पदार्थ से दुःख उत्पन्न होता है, इष्ट से सुख मिलता है तो यह जो अनुभव होता है कि दुःख अप्रिय है और सुख प्रिय है, वह आत्मा स्वयं करता है और उसी अपने अनुभव को वह दूसरों पर प्रकट भी करता है तब वही अनुभव दूसरों के लिए भी ज्ञान का रूप धारण कर लेता है एवं यह अनुभव और ज्ञान की सृष्टि का मवाहक तथा संचालक बनता है।

जैसे व्याख्यान में वहिनें घंटी हुई है वे जब अपने रगोईघर में पकवान बनानी हैं तो उस समय उन्हें चख भी लेती हैं यह मान्य करने के लिए कि उनका स्वाद ठीक तो बन पड़ा है। वह स्वाद जब उन्हें मुखचिकर लगता है तो वे यह समझ लेती हैं और सही समझ लेती है कि वही स्वाद दूसरे खाने वाले भी अनुभव करेंगे, क्योंकि वे स्वयं प्रकाशित होकर दूसरों को भी प्रकाशित कर रही हैं। यही शक्ति चैतन्य शक्ति है। क्या यह ज्ञान और अनुभूति जड़ में हो सकती है? सत् होते हुए भी चित् जड़ में नहीं है।

चेतन का तीसरा गुण आनन्द है। हम हैं और हम अनुभव करते हैं उसका परिणाम जो निकलता है वह आनन्द है। जब इन्द्रिय जन्म इष्ट विषयो का भी संयोग इन्द्रियो के साथ होता है तो उससे चाहे वह क्षणिक हो किन्तु जो एक विभोरावस्था पैदा होती है वह भी जिस प्रकार आनन्द लगता है और आनन्द विभोर होकर नाचने-कूदने की अवस्था पैदा होती है तो जब आत्मा ज्ञान में रमण करता है, अपने पराक्रम का अनुभव करता है तो उसमें जिस प्रलौकिकता का भाव जागता है वही चेतन का तीसरा गुण आनन्द है। इन्द्रिय-जन्य आनन्द को आनन्दाभास कहा है क्योंकि वह आनन्द क्षणिक होता है और आत्मा को आनन्दमय नहीं बनाता। उसका परिणाम कटु होता है इसलिए आत्मिक आनन्द वही है जो आत्मिक गुणों की परिवृद्धि के फलस्वरूप उत्पन्न होता है और परिवृद्ध होता रहता है।

धैरे मानव आनन्द की अनुभूति तीन दशाशो में करता है—जागृति, सुषुप्ति एवं स्वप्निल। जागते हुए इन्द्रिय-जन्य सुखों का उपभोग किया जाता

है और उसके परिणाम भी स्पष्ट अनुभव आते हैं। स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ सो जाती हैं लेकिन मन जागता रहता है और वही अपनी कल्पना के अनुरूप स्वप्निल सृष्टि की रचना करता रहता है। तीसरी सुपुष्टि अवस्था है— इसमें इन्द्रियाँ और मन सब सो जाते हैं अर्थात् प्रगाढ निद्रा आ जाती है जो अवस्था निरोगी व्यक्ति द्वारा आनन्दित व उपभोगित होती है। इस समय आत्मा प्रपूर्व सुख का अनुभव करता है। यद्यपि यह आनन्द अव्यक्त रहता है किन्तु उसकी अनुभूति फिर भी अत्यन्त सुखकर प्रतीत होती है। गहरी नींद के बाद शरीर हल्का और बुद्धि सतेज मालूम देती है। मन और मस्तिष्क से यह आनन्द बड़ा ही निराला लगता है।

तो यह आनन्द कब भोगा जा सकता है जब इन्द्रियाँ व मन का व्यापार बन्द होकर केवल आत्मा सजग रहता है वह भी सिर्फ अनुभूति की दृष्टि से। तो कल्पना कीजिये कि आत्मा की यह एकाग्रता यदि जागृत अवस्था में बनने लगे, मन और इन्द्रियों की गुलामी छूटकर जीवन का क्रम आत्मा की आन्तरिक आवाज का अनुकरण करने लगे तो वह आनन्द वास्तव में विशिष्ट आनन्द होगा और उसी आनन्द की निरन्तर बढ़ती हुई अनुभूति में आत्मा का पावन स्वरूप निखरता जायगा।

जब तक यह आनन्द देश, काल और वस्तु की परिधियों में बन्द रहेगा तब तक वह आनन्द न होकर आनन्दाभास मात्र रहेगा। क्योंकि देश की अपेक्षा में आप सोचते हैं कि ग्रीष्मकाल में नैनीताल या नीलगिरी शीत प्रदेश होने से आनन्ददायक होते हैं किन्तु वे ही प्रदेश शीतकाल में आपको आनन्ददायक नहीं हो सकते। इसी प्रकार काल और बाह्य का भी हाल है। वह आनन्द एक समय में होगा, एक प्रदेश में होगा अथवा कि एक पदार्थ में होगा किन्तु दूसरे ही समय, प्रदेश या पदार्थ की उपलब्धि होते ही वह नष्ट हो जायगा।

अतः यह आत्मिक आनन्द देश काल वस्तु से रहित वर्णादिक भाव शून्य आत्मा में ही निहित है और उसी में रमण करता हुआ आत्मा पर आनन्द को प्राप्त होता है। इस प्रकार सत्-चित् और आनन्द के गुणों वाला

जीव तत्त्व ही मोक्ष का मूल है। यह जीव तत्त्व की परिभाषा है और संक्षेप कहा जाय तो “उपयोग लक्षणो जीवः” अर्थात् उपयोग लक्षण वाला जीव है।

यह जीव तत्त्व जब अजीव तत्त्व के साथ मेल करता है तो ससार की सृष्टि होती है। आत्मा जीव है किन्तु शरीर के पुद्गल जड है और जब ये दोनों सम्बन्ध जोड़ते हैं तब चलता-फिरता शरीर नजर आता है। सारे संसार में या तो जीव और अजीव के सम्बन्धों के आकार प्रकार हैं अथवा इस सम्बन्ध से रचित पौद्गलिक पदार्थ। ये सब मिलकर सारे दृश्य जगत् का ढाँचा बनाये हुए हैं।

अजीव तत्त्व याने जड-पुद्गल का स्वभाव सडना, गलना, बदलना और नित्य प्रति इसकी पर्याप्त बदलती है। शरीर को ही देखिये बालक का अनन्त शरीर युवक के सुगठित शरीर में बदलता है किन्तु एक दिन वही सुगठित शरीर वृद्धावस्था के नखदन्तहीन जर्जर शरीर में बदल जाता है और आत्मा के निकलते ही श्मशान में जलाने योग्य हेय हो जाता है। यही अवस्था अन्य सारे पुद्गलों की है जो नष्ट-भ्रष्ट होते रहते हैं।

और जीव व अजीव को बाँधने वाले तत्त्व का नाम है बध तत्त्व। इस बधित के द्वारा पुद्गल आत्मा के साथ सम्बन्धित होते रहते हैं और जीव और अजीव तत्त्व का मेल कराके उन्हें ससार में परिभ्रमण शील बनाये रहते हैं।

यह बंध होता है आत्मा के साथ कामण वर्गणा के पुद्गलों का। जैसे कोई तैल मालिश करके रेत पर लेट जाय तो अजीव होते हुए भी रेत कारण उसके शरीर से चिपक जायेंगे उसी प्रकार से जब आत्मा अशुभ व शुभ भावनाओं में बहता है और उससे प्रेरित होकर वैसे ही कार्य करता है तो रेत कारणों की तरह कामण वर्गणा के अशुभ या शुभ पुद्गल आत्मा के साथ चलन होते हैं—इन्हे ही पाप या पुण्य कर्म कहा गया है।

पाप और पुण्य तत्त्व बध के फलस्वरूप सामने आते हैं और दोनों अशुभ या शुभ फलदायक होते हैं। इन्हीं तत्वों के कारण आत्मा जगत् में परिभ्रमण करता हुआ सासारिक सुखों या दुःखों का अनुभव करता रहता

है। अशुभ कर्मों से पाप का बंध होता है और दुःखदायक परिणाम देता है। उसी तरह शुभ कार्यों से पुण्य का बंध होता है और वह सुखद फल देता है तथा पुण्यानुबन्धी पुण्य प्रकृति में आत्मिक साधना में भी सहायक होती हुई वीतराग अवस्था के गुण स्थानों में भी रहती है लेकिन मोक्ष की दृष्टि से वह पुण्य प्रकृति भी त्यागनी पड़ती है और पापानुबन्धी पुण्य प्रकृति में संसार बढ़ाने में सहायक होती है। इनके चक्कर से आत्मा जड़ से सम्बन्धित ही रहती है, जड़ से छूटकर मुक्ति की मजिल तक नहीं पहुँच सकती।

अशुभ लगावट आत्मा के साथ होती है उसे आश्रव तत्व कहा है आश्रव तत्व से आत्मा की मलिनता बढ़ती रहती है और वह ससार के कीचड़ में अधिक-से-अधिक दुर्दशाग्रस्त होकर फँसता रहता है। शुभ योग तथा योग निरोध को संवर कहा है। यद्यपि संवर तत्व आत्मोत्थान में सहायक होता है किन्तु उसी तरह जिस तरह नाव नदी को पार करने में सहायक होती है। शुभ कर्मों से शुभ संयोग मिलते हैं और आत्मा को ज्ञान उद्बोध मिलता है तथा उसमें मुक्ति हित पराक्रम करने की भावना जागती है लेकिन आत्मा को मोक्ष प्राप्ति तभी होगा जब शुभ योग (पुण्य) भी आत्मा छुटकारा प्राप्त कर लेगी। क्योंकि नदी नाव से जरूर पार होगी किन्तु पार करके किनारे पर पहुँचने के लिए नाव का सहारा भी छोड़ देना पड़ेगा। उसी तरह पुण्यतत्त्व मुमुक्षु आत्मा को ससार से वैराग्य लाने में सहायता करेगा किन्तु मुक्ति में पहुँचाने के लिए आत्मा को पुण्य का आश्रव भी छोड़ना ही पड़ेगा।

संलग्न कर्मपुद्गलो से आत्मा को छुटाने वाला तत्व है निर्जरा तत्व। निर्जरा का अर्थ है कर्म क्षय। जहाँ पिछले तत्व शुभ व अशुभ कर्मों की उत्पत्ति करते हैं वहाँ इस तत्व द्वारा कर्मों का नष्ट करना है। जब साधना और त्याग की उत्कृष्ट सरणियों में आत्मा विहार करता है एव सासारिकता की गृहिणों से बहुत ऊपर उठकर अपने मूल स्वरूप सत् चित् और आनन्द में तल्लीन हो जाता है तो सभी के प्रकार कर्म क्षय होने लगते हैं अर्थात्

जीव के साथ अजीव का सम्बन्ध क्रमशः टूटता जाता है और चेतन तत्त्व विशेष से सविशेष रूप प्रकटित होता जाता है ।

और एक दिन जब आत्मा जड की लगावट को पूरे तौर पर खत्म कर देता है और शरीर के अन्तिम बन्धन से जब वह छूट जाता है तो उसकी मुक्ति हो जाती है । इसे ही मोक्षतत्त्व कहा गया है । तब आत्मा निर्विकार, निराकार रूपी हो जाता है और नित्य व शाश्वत रूप से ससार से विलग हो जाता है ।

इस प्रकार जैन दर्शन के ये दो तत्त्व-समूचा तत्त्ववाद सासारिक आत्मा से मुक्त आत्मा की प्रक्रिया का दर्शन है या यो कहे कि आत्मा के चरम विकास का गति चक्र है ।

इसलिए मैं फिर दोहराऊँ कि परमात्मा का भजन करो इसका अर्थ है कि आत्मा के स्वरूप को समझो और आत्मा के स्वरूप का ज्ञान तभी स्पष्ट हो सकेगा जब इस तत्त्ववाद को हम हृदयगम कर लेंगे । तत्त्ववाद से ही हम जान सकेंगे कि आत्मा कैसे गिरता है और कैसे उठता है ? वे कौनसी जड शक्तियाँ हैं जो आत्मा को मलिन बनाती हैं और उनसे छुटकारा पाने की कौनसी साधना है जिससे आत्मा ऊपर से ऊपर उठती जायगी ? अतः इस तत्त्ववाद का चिन्तन, मनन कीजिये ताकि हम भी अपनी आत्मा-स्थिति का उत्थान करके एक दिन अन्तिम तत्त्व की प्राप्ति कर सकें ।
ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

सर्वोद्द्य-भावना का विस्तार

जय जय जगत् शिरोमणि.....

परमात्मा और जगत् का किसी-न-किसी रूप में सदैव सम्बन्ध रहा करता है। पहले तो जगत् के इस विशाल प्राण में ही परमात्मयत्न की मिथि के लिए कठोर साधना करनी पड़ती है, जबकि वह साधक आत्मा भी अन्य सासारिक आत्माओं की ही तरह विकार-मल से क्लुपित होता है। हमारे जब मुक्त होने पर वह साधक आत्मा ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है तो चाहे उसका जगत् से सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु जगत् का मुक्त आत्मा से विशिष्ट सम्बन्ध हो जाता है, क्योंकि अन्य सासारिक प्राणियों के विकास हित वह मुक्तात्मा एक अनुकरणीय आदर्श के रूप में उपस्थित हो जाता है। इसी-लिए कवि प्रार्थना करते हैं कि "हे प्रभु ! आपकी जय हो, क्योंकि आप जगत् रूपी शरीर के सिर में जड़ी हुई मणि के समान हो !!" प्रभु की पूजा इसलिए है कि 'नर से नारायण' बनने में जो उन्होंने अत्युत्तम विकास किया है, वह विकास विजय का चिह्न है और इसलिए माननीय है। उनके विकास के रास्ते को देखकर हमारे हृदय में एक अद्भुत प्रेरणा जागृत होती है और वही प्रेरणा आत्मोत्थान के लिए अति आवश्यक होती है। यह नहीं है कि सासारिक प्राणियों के चरम विकास से परे ही कोई 'ईश्वरत्व' है, जिसका स्वरूप अनादि काल से ही वैसा ही था। ऐसा 'ईश्वर' प्रगति के लिए कदापि प्रेरणा का स्रोत हो नहीं सकता। मनुष्य में परम ईश्वर तक पहुँचने की जिज्ञासा तभी उत्पन्न होती है, जब वह यह देखता है कि उसमें भी वह व्यापक शक्ति समाई हुई है, जो ईश्वर में होती है किन्तु वह अविकसित होने की अवस्था में प्रकाशित नहीं होती तो उसमें कर्मण्यता के भाव पैदा होना सहज स्वभाविक है। इस प्रकार परमात्मा और जगत् का साध्य-साधन के रूप में बना हुआ सम्बन्ध ही प्रगति की रूपरेखा को सदैव

हरा-भरा रखता है।

यहाँ कवि ने परमात्मा की जय का जो नारा लगाया है, उसमें न केवल परमात्मा की ही जय उद्घोषित होती है, किन्तु परमात्मा के साथ-साथ सारे ससार की ही जय का नारा उठता है। लोक रूपी शरीर में सिद्धात्माएँ जिरोमणियाँ स्वरूप हैं, क्योंकि जिनके ज्ञान रूपी प्रकाश में सारा "हस्तामलकवत्" प्रतिभासित होता है। जहाँ मस्तिष्क की जय है, वहाँ सारे शरीर की भी जय हो ही जाती है, क्योंकि मस्तिष्क की जय में भी तो सारे शरीर के कार्य का सहयोग छिपा है तथा छिपी है मस्तिष्क से स्वसंचालन के हेतु शरीर को प्राप्त होने वाली तजग प्रेरणा। अर्थात् दोनों किसी-न-किसी रूप में अभिन्न हैं और दोनों पहिले—बाद सही किन्तु एक दूसरे के सहायक हैं।

यतः जिस प्रकार भारत की विजय में केवल उस पर शासन करने वाली सरकार की ही विजय नहीं होती, किन्तु उसके समस्त निवासियों की विजय होती है उसी प्रकार परमात्मा की जय में ससार के सभी प्राणियों की जय है, चाहे उन प्राणियों में जैन हिन्दू-मुस्लिम हो या पूंजीपति-मजदूर हो या मित्र-शत्रु, व मानव-पशु हो। इस भावना का नाम ही सर्वोदयवाद है। परमात्मा हमारे सम्बन्धों का एक माध्यम है कि उसके द्वारा हम परस्पर समानता का वातावरण स्थापित करने का प्रयास करते हैं। 'सर्वका उदय हो, सब मानवता के रहस्य को समझ कर अपनी अन्यायपूर्ण 'विशेषता' को छोड़ें और विश्वबन्धुत्व की स्थापना करें'—इसी में परमात्मा की जय कोलने का सार रहा हुआ है। आज हम अपनी जय चाहते हैं, किन्तु अपने विरोधी शत्रु की जय नहीं चाहते, उसका विनाश देखने की उत्सुकता रखते हैं, यही अज्ञान है और परमात्मा के स्वरूप को वास्तविकता से नहीं समझने का फल है। परमात्मा के स्वरूप को पहचानने वाला सच्चा भक्त अपनी जय नहीं चाहता। वह तो समस्त प्राणियों की जय में ही अपनी जय समझता है। सभी पर उसकी समताभरी दृष्टि होती है।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि कवि का जिरोमणियाँ की जय कोलने में

आशय समस्त प्राणियों की जय धोलता है। मस्तिष्क की जय धोलने में सभी अंगों की स्वभाविक जय समझी जाती है, क्योंकि सभी अंगों का पारस्परिक सहयोग के नाते कदाचित् अभिन्न सम्बन्ध है। मस्तिष्क का अस्तित्व ही इस बात पर है कि उदर रस बनाकर भोजन पचाता है या नहीं, पैर और हाथ इधर-उधर सब जगहों में भटक कर उसे अनुभव लेने का अवसर देते हैं या नहीं, अन्यथा अन्य अंगों के सहयोग के बिना मस्तिष्क अपनी उन्नत श्रेणी तक कभी नहीं पहुँच सकता। सभी अंगों के सहयोगपूर्ण सम्मिलित कार्य में ही शरीर की सुन्दरता तथा स्वस्थता का सद्भाव हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि समाज के सहयोग से ही व्यक्ति का विकास होता है और वह उन्नत अवस्था को प्राप्त होता है। जैसे सभी अंगों के कारण से मस्तिष्क विचारक्षम व गभीर चिन्तन करने वाला होता है, उसी तरह समाज के सरल सौहार्दमय वातावरण में ही महान् विभूतियों और महात्माओं का जन्म होता है और जैसे मस्तिष्क अधिक विचारक्षम होने के पश्चात् अन्य अंगों का विशेष रूप से रक्षण व पोषण करता है, उसी प्रकार वे महान् विभूतियाँ और महात्मा अपना सब-कुछ समाज के हितार्थ बलिदान कर देते हैं। किन्तु ये महान् विभूतियाँ जब मुक्त हो जाती हैं, निर्वाण प्राप्त कर लेती हैं, तब वे कवि के शब्दों में 'जगत् शिरोमणि' हो जाती हैं और फिर ये 'शिरोमणियाँ' अपने शुभ एव धवल प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् को आलोकित कर देती हैं।

सभी अंगों के समुचित सहयोग का प्रश्न समाज के निज के सामूहिक विकास के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। जब तक अन्न, वस्त्र आदि जीवनोपयोगी पदार्थों का समाज में प्रत्यावर्तन होता रहता है, तब तक सामाजिक जीवन में शान्ति रहती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि सभी अंगों की सहायता से शरीर के पोषक तत्व खून द्वारा शरीर के सभी भागों में पहुँचाये जाते हैं। किन्तु जब यह प्रत्यावर्तन बन्द हो जाता है या रुक जाता है, चाहे वह समाज में हो या शरीर में, तभी स्वास्थ्य विगड़ने लग जाता है। जब समाज की उपेक्षा करके व्यक्ति के हृदय में नगह की

भावना उत्पन्न होती है, अपनी ही स्वाथंपूर्ति की आकांक्षा सजग हो उठती है, तब समाज में सघर्षपूर्ण विषमता पैदा होती है और वह सामाजिक प्रशान्ति का मूल कारण बन बैठती है।

आज का सघर्ष भी पूंजीपतियों की बढ़ती हुई घनलिप्सा एवं अन्याय-पूर्ण भावना ही है। सग्रह वृत्ति की राक्षसी मदान्धता ने ही चोर-बाजार, रिस्वत आदि अमानुषिक प्रवृत्तियों को जन्म दिया है। अतः पूंजीपति जब तक अपनी सचय बुद्धि को त्याग कर अपने द्रव्य का आवश्यकतानुसार वितरण करने की ओर नहीं भुकेंगे, तब तक राष्ट्र और समाज में विषमता का नाश होकर शान्ति की स्थापना होना दुष्कर है। जैसे शरीर अपने अंगों में विभेद न रखकर ही स्वस्थ रह सकता है, उसी प्रकार समाज की स्वस्थता भी परिग्रह का साम्यदृष्टि से वितरण करने में है।

अब मैं समाज की वर्तमान वर्ण-व्यवस्था की आलोचना करते हुए बतलाना चाहूँगा कि समाज के विभिन्न अंगों में क्योंकर भेद उत्पन्न कर दिया गया और इसके कारण किस प्रकार एक अंग पोषण और दूसरा अंग पोषण के अभाव में विकृत हो चला? इसके साथ यह भी बताऊँगा कि वर्ण-व्यवस्था की स्थापना कब और किस उद्देश्य को दृष्टिकोण में रखकर हुई?

जैसे शरीर के चार प्रमुख अंग होते हैं, उसी प्रकार समाज में कर्तव्यों को दृष्टि में रखकर चार वर्णों की स्थापना हुई। जो लोग सशक्त और युद्ध-कला में निपुण थे, उन्होंने रक्षा का भार अपने ऊपर लिया और वे क्षत्रिय कहलाये। जिन लोगों को अध्ययन और आध्यात्मिक क्षेत्र में अधिक रुचि थी, वे ब्राह्मण कहलाये और उन्होंने समाज में नीति व धर्म के प्रचार का दीर्घ उठाया। जिस समुदाय को शुद्ध कहा जाता है, उसने अपनी सर्वोच्च दत्त सेवा भावना से समाज की नीची-से-नीची सेवा करने की इच्छा प्रकट की और समाज के हर तरह के काम के लिए उन्होंने अपने-आपको समर्पित कर दिया। किन्तु इन तीनों वर्णों के भरण-पोषण का सवाल उठ खड़ा हुआ। सभी समाज के अलग-अलग कामों को पूरा करेंगे, मगर खाना कहाँ

से आवेगा ? तो समाज के एक हिस्से ने यह उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया कि व्यापार, खेती आदि साधनों से जीवनोपयोगी पदार्थ उत्पन्न कर वह समुदाय समग्र समाज के भरण-पोषण का प्रबन्ध करेगा तथा यह समुदाय 'वश्य' कहलाया ।

समाज की सुव्यवस्था को लक्ष्य में रखकर ही सम्भवतः यह वर्ण-विभाग हुआ होगा, किन्तु समय प्रवाह के साथ यह वर्ण-विभाग विकृत की ओर बढ़ चला । कर्त्तव्य की अपेक्षा जातिवाद को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा । अपने को श्रेष्ठ बताकर अपनी ही पूजा-प्रतिष्ठा कराने के लिए अन्य वर्णों का तिरस्कार और निरादर किया जाने लगा । शूद्रों को सबसे निकृष्ट माना जाने लगा, जिन्होंने समाज की कठोरतम सेवा करना स्वीकार किया था और तो क्या, शूद्रों को शास्त्र सुनने का भी अधिकार नहीं बताया गया । यदि कोई भूल से सुन लेता तो उसके कानों में गरम शीशा डाल दिया जाता था । शूद्रों का तिरस्कार करने की प्रवृत्ति का जन्म ब्राह्मण-संस्कृति की विकृति से ही हुआ ।

ब्राह्मण यदि आचार-विचार से श्रेष्ठ है और इसलिए वह ऊँचा रहे तो इसमें किसी की असहमति नहीं हो सकती, किन्तु शूद्रों का, क्योंकि वे शूद्र हैं, तिरस्कार करना सर्वथा अन्याय है । शरीर के अन्य अंगों को वस्त्राभूषण से सुसज्जित करके तथा सिर पर तुर्रें लगाकर सुन्दर साफा बाँधकर शरीर के निम्न भाग को तिरस्कृत समझ यदि नग्न ही रखा जाय तो वह शोभनीय प्रतीत होगा ? वह तो शरीर का एक उपहासास्पद स्वरूप हो जायगा । यही आज के समाज का हाल है ।

जैन-संस्कृति का स्पष्ट दृष्टिकोण है कि—

कम्मरुणा वेमरुणे होई कम्मरुणा होई ग्वत्तियो ।

कम्मरुणे वेसयो भवई, सुद्धो हवई कम्मरुणा ॥

कर्म अर्थात् कार्य (आचार-विचार) से ही ब्राह्मणत्व आदि का आगोप किया जा सकता है । जैन-संस्कृति वर्णों को वर्णों के रूप में नहीं मानती कि ब्राह्मण का बेटा ब्राह्मण ही है, चाहे वह विलासी, हत्यारा और पापी

सब कुछ हो, तथा शूद्र का वेटा शूद्र ही हो, चाहे त्याग और चारित्र्य की दृष्टि से उसका जीवन दूसरो के लिए अनुकरणीय बना हुआ है। जैन-संस्कृति तो गुण पूजक है। वह क्षत्रिय, ऋषभ, महावीर आदि तीर्थंकरों, ब्राह्मण गौतम आदि गणधरो, वैश्य घन्ना, शालिभद्र महान् त्यागियो और शूद्र (भगी) हरिकेशी आदि मुनिवरो की सबकी हृदय से आराधना और उपानना करने का आदेश देती हैं। इसलिए नहीं कि वे क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, या शूद्र थे, बल्कि इसलिए कि वे गुणधारी थे, उन्होने निज का जीवन विकसित कर अन्य प्राणियों के जीवन विकास की ओर अपनी सभी शक्तियों को लगाया। जैन-संस्कृति के सामने वर्णों का कतई दृष्टिकोण नहीं है, उसके सामने तो आत्मिक विकास की महिमा है।

आज समाज के हरिजन-उद्धार की एक समस्या है। महात्मा गांधी ने इस क्षेत्र में महान् आन्दोलन किया है और अब तो भारतीय संविधान द्वारा छुआछूत को अपराध करार दे दिया गया है। किन्तु यह समस्या अब भी समस्या है और जब तक विचारों में जोरदार आन्दोलन नहीं होता, यह समस्या हल नहीं हो सकती। समाज में हरिजन यदि अपना काम करना छोड़ दें तो तत्काल अन्य वर्णों की तबियत ठिकाने आ जाय। भारत में ही मानवता के क्रूर अपमान का दृश्य इस रूप में हमें देखने को मिलता है। कुत्तों को चूम-चूमकर प्यार किया जाता है, किन्तु भूख और रोग में सड़ते हुए इस मानव की ओर रुढ़िवादी सर्वर्ण देखना भी नहीं चाहता। घूलिया-गंज में मुझे एक भाई ने पूछा कि 'हरिजन का हमारे मन्दिर में प्रवेश न हो इसके लिए हमारे एक मुनि (दिगम्बर) ने अनशन करके प्राण त्याग दिये, इस दिपय में घापका क्या विचार है?'

मैंने कहा—“जैन दर्शन में तो जातिवाद को कहीं महत्व नहीं दिया गया है, फिर छुआछूत का उसके सामने विचार ही नहीं उठना अतः शुद्ध जीवन व्यतीत करने वाले हरिजन के लिए भेदभाव का कोई प्रश्न नहीं हो सकता।”

जैन-दर्शन विशाल और व्यापक विचारधारा लेकर चलता है। प्रत्येक

मानव ही नहीं, प्रत्येक प्राणी को समता की दृष्टि से देखता है। किन्तु इसका ही एक सम्प्रदाय ऐसा है, जो अन्य दर्शनो के समान सकृचित विचार-धारा रखता है। वह है दिगम्बर सम्प्रदाय, जो शूद्र को मोक्ष का अधिकारी नहीं मानता और इस प्रकार शूद्र व स्त्री को मोक्ष के अधिकार से वंचित कर दिया है। प्रतिगामी विचारो का ही प्रदर्शन किया है। उनका कहना है कि गुणस्थान में अर्थात् साधुत्व में स्त्री गौत्र का उदय नहीं होता और सूत्र में नीच गौत्र का उदय है, एतदर्थं वह उक्त गुणस्थान को स्पर्श नहीं कर सकता और उसका स्पर्श किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह उपयुक्त है किन्तु 'गौत्र' शब्द से जाति का अर्थ लेना कतई ठीक नहीं कहा जा सकता। जाति विशेष को लक्ष्य में रखकर गौत्र शब्द की व्याख्या इसी सम्प्रदाय ने की है। किन्तु ठाणायाम सूत्र की टीका में 'गौत्र' शब्द की व्याख्या इस प्रकार दी गई है—

“अयं सत्पुंषः, अयं घर्मात्मा, अयं सदाचारी, एतादृशां गा वार्षीं प्रायते, रक्षतेति उत्तम गौत्रः।”

अर्थात्—श्रेष्ठ कर्तव्य के द्वारा जो श्रेष्ठ वाणी की रक्षा करता है, वह उच्च गौत्र वाला है। और—

“अयं शूद्रः, अयं दुराचारी, अयं दुष्टात्माः, एतादृशां गा वार्षीं प्रायते रक्षतेति नीच गौत्रः।”

अर्थात्—अपने नीच कर्म द्वारा निकृष्ट वाणी की जो रक्षा करता है, वह नीच गौत्र वाला है।

इस प्रकार ऊँच-नीच गौत्र जाति विशेष से नहीं, किन्तु भावना व कर्म विशेष से है। गुणस्थान का स्पर्श भी भावना से होता है। निकृष्ट स्थान में भी उत्पन्न व्यक्ति श्रेष्ठ भावना रखता है तो वह ऊपर के गुण-स्थानों का स्पर्श कर सकता है। हरिकेशी मुनि का ज्वलन्त उदाहरण इसी सत्य को स्पष्ट करता है। ये मुनि हरिजन कुल में पैदा होने पर भी अपने दिव्य गुणों के कारण, देवेन्द्र, चरेन्द्र और क्रियाकाडी, जातीयाभिमानी विप्रों के भी पूजनीय बने थे। अतः यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि विशिष्ट गुण-

युक्त व्यक्ति ही उत्तम गुणस्थानों का स्पर्श कर सकता है। उसमें जाति का कोई महत्व नहीं। ऊँच और नीच गौत्र कषायों पर ही अवलम्बित है। तीव्र कषाय वाला नीच गौत्रीय है और मन्द कषाय वाला ऊँच गौत्रीय।

अतः जिस प्रकार अशुचि के साफ करने से हम माता को घृणित नहीं समझ लेते, वल्कि उसके प्रति विनम्र और आज्ञाकारी होते हैं, उसी प्रकार हरिजन भी समाज के लिए माता के तुल्य समझे जा सकते हैं और इनके प्रति भी यथायोग्य समान व्यवहार की आवश्यकता है।

मेरे कहने का निष्कर्ष यही है कि सर्वोदयवाद के महत्व को समझे और परमात्मा की जय बोलने में सब प्राणियों के साथ साम्य दृष्टि को अपनाएँ। वैभव और ये जरीर आदि सब नश्वर हैं, एक दिन नष्ट हो पार्यंगे और साथ रह जायगा वही, जो कुछ किया है। जैनशास्त्रों में परदेशी राजा का उदाहरण आता है, जिसके हाथ निर्दोषों के खून से सने रहते थे, वह भी केशी धर्मण के उपदेश से त्याग पथ की ओर अग्रसर हुआ। आज भी उसी त्याग की आवश्यकता है, समाज की सघर्षमय विषमता को मिटाने के लिए। षोषण का हमेशा के लिए खात्मा कर दिया जाय, इसके लिए अपनी दासनाओं और आवश्यकताओं को सीमित करना चाहिए और अपने वैभव का अमुक हिस्सा दानादि शुभ कार्यों के लिए निर्धारित किया जाना चाहिए। आप यहाँ बैठे हुए नज्जन भी दान आदि शुभ कार्य का अपना हिस्सा निकालने का व्रत लें। इस पर कई धावकों ने ऐसा व्रत लिया।

अन्त में यही कहना चाहता हूँ कि समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझे, सबसे प्रेम करे, सबकी रक्षा करे, यही सर्वोदयवाद है और इसी में परमात्मा की जय यथार्थ रूप से बोली जा सकती है।

जैन धर्म का ईश्वरवाद कैसा ?

सुविधि जिनेश्वर वन्दिये हो,

वन्दत पाप पुलाय ।

यह सुविधिनाथ भगवान की प्रार्थना है। इसमें कवि विनयचन्द जी कहते हैं कि हे भव्य पुहपो, परमात्मा को नमस्कार करो, क्योंकि नमस्कार करने से तुम्हारे सकल पाप पुज नष्ट हो जायेंगे।

लेकिन प्रश्न पैदा होता है कि जब परमात्मा दृष्टगोचर ही नहीं होता तो किसे वन्दन करें ? वह परमात्मा कहाँ है, कैसा है ? आप लोग सोचते होंगे कि जब परमात्मा सम्मुख हो तभी तो उसके दर्शन हो सकते हैं, उसको वन्दन किया जा सकता है किन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या परमात्मा के दर्शन इन चर्म चक्षुषो से सम्भव है ? स्वय तीर्थङ्कर के सम्मुख होने पर भी उनके दर्शन इस तरह नहीं किये जा सकते। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

“न ह्यु जिणं अज्ज दिस्सई”

भगवान् महावीर स्वय वँठे हुए हैं और गौतम से कह रहे हैं, हे गौतम ! तुम्हें आज जिन नहीं दिखाई देते। यह बड़ी गहन बात है। भगवान् महावीर स्वय वँठे हुए हैं और यह कहते हैं कि तुम्हें जिन नहीं दिखाई देते इसका अर्थ क्या ? यही कि चर्म चक्षुषो से देखने वाला परमाणुओं का स्कन्धमात्र है। जिनत्व का जो स्वरूप है वह जिन बने बिना नहीं दीखता। अतः उन्होंने कहा कि जिन बने बिना जो स्वरूप देखते हो, वह जिन नहीं किन्तु अन्य दीखता है। कई लोग कहते हैं—चलो भगवान् के दर्शन करने चलें किन्तु वह भगवान् के आत्मिक स्वरूप नहीं, शारीरिक रूप की भी मूर्ति प्रतिकृति मात्र है। जब कि महावीर का कथन है कि स्वय भगवान् समक्ष उपस्थित हो फिर भी दिव्य ज्ञान चक्षुषो के बिना इन चर्म चक्षुषो से उनके दर्शन नहीं हो सकते तो फिर मूर्ति के दर्शनों से क्या होगा ?

दूसरी बात है वह भगवान् कहां है ? जिसके हम दर्शन करे । वह भगवान् और वही नहीं है, आपके ही हृदय के अन्दर विराजमान है । कहा है—
 देह देवालय प्रोक्त, जीवो देव सनातन ।
 त्यजेद ज्ञान निर्मल्य सोऽह भावेन पूज्येत् ॥

भगवान् जिस मन्दिर में रहते हैं, वह मन्दिर हमारी ही देह है और उसमें रहा हुआ चिदानन्द आत्मा ही सनातन देव है । यह अज्ञान के कारण ही अपने स्वरूप को भूल चुका है । इसलिए इस अज्ञान को छोड़ो और "मैं ही भगवान् हूँ ।" इस निष्ठा से अपनी आत्मा का ही समादर करो—भगवान् का पता अवश्य लग जायगा ।

इस विवरण से मैंने यह कहना चाहा कि भगवान् कोई अलग वस्तु-स्थिति नहीं, वह तो एक स्वरूप है, अनुभाव है जिसके दर्शन अपनी ही आत्मा की उच्चता के साथ अपने ही दिव्य चक्षुषो से किया जा सकता है । अब जैन-धर्म में ईश्वरवाद का स्वरूप किए ढग से वर्णित किया गया है, उसकी सूटमना पर प्रकाश डालने के पूर्व एक शका का स्पष्टीकरण करना चाहता हूँ कि ईश्वर को मृष्टि का कर्त्ता मानने वाले दर्शनों के सम्बन्ध में जैनधर्म की मान्यता क्या है ?

वई दर्शन ऐसे हैं जो ईश्वर को इस सृष्टि का कर्त्ता मानते हैं । उनका वहना है कि ईश्वर ने ही जीवों को बनाया और समार की समस्त दृष्टिगत वस्तुओं की रचना की । इसके बाद भी ईश्वर इनकी पालना करता है, इनका विनाश करता है और नवीन रचनाएँ करता रहता है । ईश्वर की इच्छा के बिना पेड़ का एक पत्ता भी नहीं हिलता तथा उसके चलाये ही हर पदार्थ गति करता है । इस मान्यता का निष्कर्ष यह हुआ कि ईश्वर, ईश्वर है जो हमेशा एक व नित्य रूप से ईश्वर ही रहता है तथा अन्य जीव, जीव है जो कभी भी ईश्वर का रूप नहीं ग्रहण कर सकते, अर्थात् जीव कभी भी अपना विकास कर भगवान् नहीं बन सकता और भावना सदैव सूत्रधार की तरह इन सब जीवों का निर्माण, पोषण व विनाश करता रहकर श्रीडा व आनन्द करता है । सूत्रधार अपना नाटक खेलकर जिस प्रकार उन पात्रों को समाप्त

कर देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी इन सब जीवों को क्रीडा कराकर निश्चित अवधि पर समाप्त कर देता है। परन्तु ऐसा मानने पर ईश्वर, ईश्वर नहीं रहता। यह तो बच्चों के खिलौने की तरह कल्पना कर ली है। जैन दर्शन ईश्वर के स्वरूप को इस प्रकार नहीं मानता।

आज प्रातः मैं बाहर जाकर आ रहा था कि एक भाई मिले। बातचीत के दौरान में उन्होंने पूछा कि आज किस विषय पर व्याख्यान होगा। मैंने कहा कि मैं हमेशा ईश्वर प्रार्थना बोलता हूँ सो आज पूरा व्याख्यान ही ईश्वर-प्रार्थना पर होगा। वे बोले—जैन और बौद्ध तो ईश्वर को मानते ही नहीं, फिर आप ईश्वर प्रार्थना के विषय में व्याख्यान कैसे देंगे? वे भाई ही क्या, दूसरे कई दार्शनिक भी जैनधर्म के तत्व को नहीं समझने के कारण कह देते हैं कि जैनधर्म अनीश्वरवादी है, अतः नास्तिक है।

जिन लोगों ने ईश्वर को कुम्हार की तरह एकान्त रूप से कर्त्ता मान लिया है और राजा का तरह उसे नियन्ता मान लिया है, वे अपनी इच्छानुसार ईश्वर की कल्पना मानने वाले को ही ईश्वरवादी और आस्तिक समझते हैं एव अन्य लोगों को अनीश्वरवादी व नास्तिक कहते हैं। इसी भ्रान्त धारणा के आधार पर जैनधर्म को अनीश्वरवादी व नास्तिक कहा जाता है, पर वे यह नहीं समझते कि जैनो के २४ तीर्थङ्कर हुए हैं तथा उनके नमस्कार मन्त्र में पहले और दूसरे पद पर जिन आरिहत और सिद्धों को नमस्कार किया गया है वे ईश्वर ही हैं।

जैनधर्म में ईश्वर की जो परिभाषा दी गई है, वही अनुभव के धरातल पर सिद्ध और तर्क की कसौटी पर सत्य ठहरती है। ईश्वर के सत्य स्वरूप को समझने के लिए स्याद्वादी व नयात्मक दृष्टिकोण से जैनधर्म में ईश्वर तीन प्रकार के माने गये हैं याकि ईश्वरत्व को तीन रूपों में देखा गया है।

ईश्वर के वे तीन प्रकार इस तरह माने गये हैं—(१) सिद्ध, (२) मुक्त और (३) बद्ध।

सिद्ध ईश्वर का स्वरूप निरंजन, निराकार, निरामय, ज्योति स्वरूप माना गया है। आचारांग सूत्र में सिद्धस्वरूप का विस्तृत वर्णन है। जिनके

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, सहनन, सठान आदि नहीं हैं व जिनके कोई लिंग नहीं है— वे सिद्ध हैं। उनके न राग है, न द्वेष। किसी प्रकार का कर्म फल जिनके संलग्न नहीं है। उन्होंने आत्म-स्वरूप की उज्ज्वलता के बाधक अष्टकर्मों को नष्ट कर दिया है और जो शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थित हो गये हैं। सिद्ध शब्द का शब्दार्थ भी यही है—सिद्ध बन्धने एव ध्या अग्निसयोगे धातुओ से यह शब्द बना है जिसका अर्थ होता है कि प्रकृति के समस्त बन्धनों को नष्ट करने वाले। इस प्रकार जैनधर्म में सिद्ध ईश्वर उन आत्माओ को माना गया है जो अपने स्वरूप की परमोज्ज्वलता को प्राप्त कर ससार से समस्त बन्धनों से विमुक्त हो निराकार आदि निर्वन्ध रूप में प्रक्षिप्त हो गई है। उन आत्माओ का ससार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, वे ससार की किसी भी प्रवृत्ति को प्रेरित नहीं करती।

दूसरा प्रकार है मुक्त ईश्वर का। मुक्त ईश्वर वे आत्माएँ हैं जिन्होंने अगीगे में रहते हुए अपने समस्त विकारों के कलुष को धो डाला है। काम, क्रोध का जिनमें अश भी नहीं है—राग द्वेष की भावना को समूल नष्ट कर दिया है। जानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अन्तराय कर्मों को क्षय करके जिन्होंने अपनी आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एव अनन्त शक्ति को प्रकटित कर दिया है। ऐसे महापुरुष जो सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हैं तथा स्वस्वरूप में रमण करते हैं, वे मुक्त ईश्वर हैं या जिन्हे जीवन मुक्त कह दें। भगवान् महावीर आदि तीर्थंकर इसी भूमिका पर थे। नमस्कार मन्त्र में पहले पद पर जिन अरिहतों को नमस्कार किया है वे हैं मुक्त ईश्वर और दूसरे पद पर जिनको नमस्कार किया गया है वे हैं सिद्ध ईश्वर। सिद्ध ईश्वर के स्वरूप को प्रशंसित करने वाले भी मुक्त ईश्वर ही हैं अतः उनका पद पहला रखा गया है।

तीसरे, बद्ध ईश्वर ससार की समस्त आत्माएँ हैं जो चार गति चौरासी लाख जीव योनियों में बिखरी हुई है। बद्ध याने कर्मों से बधा हुआ। वे ससार की समस्त आत्माएँ काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग द्वेष आदि के कारण अपने आत्म स्वरूप को भूली हुई हैं और घाठों प्रकार के कर्मों का बन्ध करती

रहती है। यह ब्रह्म ईश्वर ही सृष्टि का निर्माण करता है। वृक्ष को बीज में रहे हुए आत्मा ने ही बनाया है, पानी में रहे हुए जीवात्माओं ने पानी की तरलता का निर्माण किया। आज का विज्ञान भी वनस्पति में तो जीव स्वीकार कर चुका है किन्तु पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि आदि में नहीं करता। पानी और वायु में केवल उन्हीं त्रस जीवों को वह मानता है जो दूरबीक्षण यंत्र से देखे जा सकते हैं पर उनके पिंड नहीं मानता। जैन दर्शन में इन पिंड शरीरों का विस्तृत वर्णन है कि इनमें जीव कैसे हैं और वे जीवात्मा मिलकर पुद्गलो को ग्रहण करते हुए किस प्रकार इन पदार्थों की रचना करते हैं? हमारे शरीर को भी हमारी आत्मा ने गर्भ में माता की रसवाहिनी नाड़ी से रस दे देकर बनाया है तो उसी तरह सारे बाह्य जगत् की जो सृष्टि है—जो मकान, सड़क, रेल मोटर आदि निर्माण कार्यों का जाल बिछा हुआ है वह इन्हीं ब्रह्म आत्माओं की रचना है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, कीट, पतंग, पशु आदि अपने-अपने ढंग से संसार के कई पदार्थों की रचना में योग देते हैं तो मनुष्य ने अपने मस्तिष्क और अपनी बुद्धि से आज के जगत् की विविध दृश्यावलियाँ निर्मित की है। जैन धर्म इस तरह सृष्टि का कर्ता, निर्माता वा नियन्ता किसी एक का नित्य वा अघूरे ईश्वर को नहीं मानता, वह तो इस समस्त क्रिया कलापो का कर्ता उन सब आत्माओं को मानता है जो इस संसार में ब्रह्म है और अपने एकाकी वा सामूहिक-प्रयासों से सृष्टि की रचना में योग देते रहते हैं।

और जैन धर्म की सूक्ष्म सिद्धान्त दृष्टि के अनुसार ये सब ब्रह्म ईश्वर की तरह निश्चय दृष्टि में शुद्ध स्वरूपी हैं किन्तु तैजस कामणं शरीर से बधा हुआ होकर अपने शुद्ध स्वरूप को भूला हुआ है। जैन दर्शन की इस मान्यता के पीछे आत्माओं को अपने विकास के लिए प्रेरणा का अदभुत स्रोत ब्रह्म रहा है। यह नहीं कि आत्मा सिर्फ ईश्वर की छाया है, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, बल्कि सभी आत्माएँ पूर्ण विलग व स्वतन्त्र हैं तथा उन सब ब्रह्म आत्माओं में ईश्वरत्व छिपा पड़ा है। वे सब शक्ति धारिणी हैं, आवश्यकता है कि वे अपनी आत्माओं पर लगे कर्म मूल को पूरी तरह धोकर

अपनी शक्ति को चमका दे। संयम और साधना का पुरुषार्थ करते हुए ये बद्ध ईश्वर ही मुक्त ईश्वर हो जाते हैं और शरीर के अन्तिम बन्धनों को छोड़कर ये ही सिद्ध ईश्वर के चरम स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् महावीर आदि तीर्थंकर भी पहिले बद्ध ईश्वर थे फिर त्याग व तपश्चर्या से अपना विकास साधते हुए मुक्त ईश्वर हुए तथा उसके बाद सिद्ध ईश्वर हो गये ज्योतिस्वरूप निर्मल।

जैन धर्म का जो यह ईश्वरवाद है, वह बड़ा गूढ है और उसमे स्वयं कर्तृत्व की एक उदात्त भावना छिपी हुई है। बद्ध से लेकर प्रसिद्ध स्थिति तक जो आत्मस्वरूप वर्णित किया है उसका स्पष्ट निष्कर्ष है कि प्रारम्भ से कोई एक ही ईश्वर नहीं है जो आत्मा सिद्ध होकर ईश्वर हो जाता वे अपनी समस्त ज्ञानादि अनन्त शक्तियों को प्राप्त करके अपने स्वतन्त्र निज स्वरूप रमण मे तल्लीन रहती है और अन्य सिद्ध परमात्माओ की पूर्ण ज्योति के सदृश ज्योतिस्वरूप बन जाती है। तदन्तर उनका ससार से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता है फिर कर्त्ता और नियन्ता होने की बात तो कतई दूर है।

ससार को बनाती, बिगाडती या बदलती है ये बद्ध आत्माएँ जो जब उत्कार्यों मे प्रवृत्त होती है अधिकतया तब ससार मे जिसे सतयुग कहें या कुछ और नीति और धर्म का युग चलता है और जब इन बद्ध आत्माओ मे दिङ्गतियाँ बढती हैं तब अनीति और अन्याय का क्रम चलता है। इन बद्ध आत्माओ मे विकास की गति एक और ससार मे सामूहिक रूप से अच्छा खातावरण पैदा करती है तो दूसरी ओर इन बद्ध आत्माओ मे से ही जो उच्चतम विकास साध लेती है, उन्हें मुक्त और सिद्ध अवस्थाओ की ओर प्राये दढाती है।

तो ससार मे रहा हुआ हर बद्ध आत्मा अपने मे एक प्रेरणा का उत्साह ढाल सकता है क्योंकि वास्तविक रूप से वह किसी एक ईश्वर की शक्ति की कठपुतली नहीं, स्वयं अपने विकास के कर्त्ता, नियन्ता और निर्माता है—पुरुषार्थ करने से अनादि से बद्ध आत्मा भी विकास करते हुए मुक्त

और सिद्ध हो सकता है। निष्कर्ष यह हुआ कि हम भी मुक्त होकर सिद्ध हो सकते हैं और इसीलिए परमात्मा की प्रार्थना व स्तुति की जा रही थी ही—

सुविधि जिनेश्वर वन्दिये हो

वन्दत पाप पुलाय ।

अब एक और प्रश्न रह जाता है कि जब सिद्ध या मुक्त कुम्भकार की तरह कर्त्ता नहीं है और हमारी प्रार्थना व अप्रार्थना में वह रीझता या रूसता नहीं है तो फिर उसकी प्रार्थना करने क्या लाभ ?

प्रार्थना के असली महत्त्व को समझने की दृष्टि से यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है। मैं आपको पूछता हूँ कि आप प्रार्थना क्यों करना चाहते हैं ? संभव है, कई यह समझते होंगे कि प्रार्थना करने से भगवान् हमारी मन की इच्छाएँ पूरी करेंगे और उनकी समझ होती है ससार की इच्छाओं के सम्बन्ध में। मतलब कि भगवान् की प्रार्थना करेंगे। तो धन, परिवार या कि उपयोग आदि की दृष्टि से उनका सुख बढ़ेगा और इस सम्बन्ध में कोई कष्ट आवेगा ही नहीं या आवेगा तो भगवान् उसे दूर कर देंगे। अथवा प्रार्थना से प्रभु प्रसन्न रहेंगे और भक्त जन पर अपनी कृपा बरसाते ही रहेंगे कि वह किन्हीं कष्टों से पीड़ित न हों।

प्रार्थना करने के सम्बन्ध में ऐसी भी भावनाएँ कई दर्शनों में मानी जाती हैं और उसका आधार वही है कि ईश्वर ही संसार में होने वाले हर कार्य का प्रेरक है। वस्तुतः प्रार्थना या गुणगान ईश्वर को प्रसन्न करने या रिझाने के लिए नहीं किया जाता। वह ईश्वर तो ससार से अलिप्त है, उसे आपकी प्रार्थना से क्या ? वह प्रार्थना और गुणगान करना है अपनी ही आत्मा के लिए। उनके गुणों का स्मरण करके, उनके विशुद्ध आत्मस्वरूप पर चिन्तन करके हम अपनी आत्मा में विकास की प्रेरणा जगा सकते हैं और उस स्वरूप को आदर्श मानकर उस दिशा में गति कर सकते हैं। इसलिए प्रार्थना व गुणगान से अपनी आत्मा का विकास संभव है। ठीक उसी तरह जिस तरह सूर्य की ऊष्णता से किसान अपनी फसल पकाता है, धान्य की उपलब्धि करता है किन्तु उस उत्पादन से सूर्य का अपना कोई वास्ता नहीं

होता। सूर्य अलिप्त है उस फसल से और धान्य से, वह तो किसान की प्राप्ति है, सूर्य उसमें कर्ता नहीं। उसी प्रकार मुक्त और सिद्ध ईश्वर अलिप्त होते हैं, वीतराग होते हैं, किन्तु उनके तेज से यदि बद्ध आत्माएं प्रेरणा लेकर विकास करना चाहे—आत्मोत्थान की फसल पकाना चाहे तो वे उनके आदर्श को अपने सामने रखकर वैसा कर सकते हैं।

इसी दृष्टि से प्रार्थना और ईश गूणगान का महत्त्व है। उसका सम्बन्ध किसी सासारिक वासना या कामना से नहीं है। भगवान् महावीर ने कहा कि जिन होकर जिन को देख सकोगे अतः प्रार्थना की एकाग्रता व तल्लीनता हमें भी विरागी होने की प्रेरणा देती है और एक विरागी ही वीतरागी के स्वरूप का यत्किञ्चित् दर्शन कर सकता है। प्रार्थना केवल वाणी से नहीं, मन, वचन और काया द्वारा प्रभु के ध्यान में तल्लीनता लाने में सफल होती है। एक कवि ने कहा है कि—

खुदा से मिला वो खुदा हुआ,
नहीं जुदा हुआ।

आप लोग खुदा का नाम सुनकर चौंके होंगे कि यह इस्लाम की क्या बात है? हम तो अनेकान्तवादी हैं, जहाँ भी सत्याश हो उनको प्रेम से ग्रहण करो और पूर्ण सत्य के दर्शन की चेष्टा करो। खुदा फारसी भाषा का शब्द है। यह शब्द खुदा “खुद आमदन” से बना है जिसका अर्थ होता है स्वयं आया हुआ। आत्मा बना हुआ नहीं है क्योंकि जो बनता है वह नष्ट भी हो जाता है। जैसे भकान, कपड़ा, शरीर आदि घनते हैं तो नष्ट हुए देखे जाते हैं, लेकिन आत्मा बना हुआ नहीं है अतः खुदा है। अब जो खुदा से मिला, अर्थात् जिसने आत्मस्वरूप में रमण किया, वह खुदा बन गया, परमात्मा हो गया और जब वह आत्मा एक बार परमात्मा हो गया तो फिर उस ईश्वरत्व से वह कभी जुदा होने वाला नहीं है। एक बार ईश्वरत्व, सिद्धत्व प्राप्त करने पर आत्मा पुनः कभी ससार में नहीं लौटता, वह वही अनन्त आनन्द में लीन रहता है।

इसलिए शुद्ध विचारणा व शुद्ध भावना से ईश्वर की प्रार्थना करना

साधन है, साध्य नहीं। साध्य तो सिद्ध ईश्वरत्व प्राप्त करना है। प्रार्थना में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि सत्पुरुषार्थ स्पष्ट होते हैं तथा इन सत्पुरुषार्थों को आत्मा के पराक्रम से साध लेने पर विकार नष्ट होते हैं और विकास उपलब्ध होता है। जैसे गुरु के पास विद्याध्ययन करने से ज्ञानाचरणीय कर्म नष्ट होता है और आत्मा का गुण-ज्ञान प्रकट होता है। स्वर्ण के विकार को जैसे अग्नि के ताप से नष्ट किया जाता है वैसे ही आत्मा के विकार इन सत्पुरुषार्थों की साधना से गलते और जलते चले जाते हैं।

शास्त्रों में आत्मोत्थान के जितने भी साधन बताये हैं, उनका मूल उद्देश्य पुद्गलो के मोह को दूर करना और अपनी ही आत्मा में रहे हुए ईश्वरत्व को पहचानना तथा प्रकटाना है। जब पदार्थों से मोह और परिग्रह से ममत्व हटता है तो आत्मा का स्वरूप उज्ज्वल होने लगता है। इस स्वरूप को उस चरम स्थिति पर विकास देने का नाम ही मुक्ति है, वे ही मुक्त ईश्वर हो जाते हैं। मुक्ति इसी देह में, इसी ससार में साधी जा सकती है। आवश्यकता है कि इन पुद्गलो का मोह दूर हटाया जाय। इन पुद्गलो की अभ्यंकरता पर एक कवि ने इस तरह प्रकाश डाला है—

पुद्गल दे दे धक्का, तूने मुझको खूब रुलाया रे। ध्रुव।

षड्द्रव्यन में तू और मैं, दोनों ही हैं बलवान।

तूने मुझको ऐसा बनाया, मैं भूल गया स्वभाव ॥१॥

यद्यपि मैं हूँ सिद्धस्वरूप, तू अचेतन भाव।

तुझ जड़ से मैं ऐसा बँधिया लोया चेतन नांव ॥२॥

ससार की चारो गतियों में भ्रमण कराने वाला यह पुद्गल मोह ही है। कवि ने तो सब बोझ पुद्गलो पर डाला है पर वास्तव में आत्मा का अपने स्वरूप को भूलकर इन पुद्गलो में आसक्त होना ही अपना पतन कराना है। इस कठिन विषय को मैं एक दृष्टान्त के रूप में सरल विधि से कहना चाहता हूँ, ताकि बहिनें और बच्चे भी इसको आसानी से समझ लें।

एक गाँव में एक महाजन के चार लडकियाँ थी। वह उन सबकी शादी कर चुका था। एक बार चारो जामाता ससुराल में आये। महाजन ने चारों

का रस्म के मुताबिक खूब सत्कार किया। किन्तु रोज ससुराल में पक्वान् खाते हुए वे चारों वहाँ टिक ही गये। महाजन उनकी सेवा-सत्कार से घब-राने लगा लेकिन मुँह से जाने को किस प्रकार कहे, इस विचार से उसने तरकीब करनी शुरू की। उसने पक्ववान् चन्द करके बाजरे का खीच और घी देना शुरू किया तो बड़ा जामाता समझ गया कि यह रवाना हो जाने का संकेत है। उसने प्रस्थान करने की स्वीकृति माँगी और दिखावे की मनुहार के बाद चिदा हुआ।

किन्तु तीनों जामाता तो खीच, घी का आनन्द ही लूटने लगे और जमे रहे तो महाजन ने घी की जगह तेल शुरू कर दिया। इस पर दूसरे जामाता से भी विदा ली। लेकिन बाकी दो तो फिर भी टिके रहे। तब महाजन ने कहा कि उनके पलग, गद्दे वगैरह धूप में देना है सो वे सब मँगवा लिए और उन्हें सोने के लिए खाली दरियाँ दे दी। इस हरकत पर तीसरा जामाता भी विदा कर गया लेकिन चौथा जामाता फिर भी वेशर्म बना रहा तो महाजन ने एक और तरकीब की। दिखावे के रूप में महाजन अपने बेटे से लडने लगा तो जामाता बीच-बचाव करने छुड़ाने गये तो दोनों ने मिलकर उनकी अच्छी पूजा कर दी। आखिर तब चौथा जामाता भी घर गया।

यह दृष्टान्त मिलता है अपने ही जीवन की चारों अवस्थाओं से। हमारा घर है मुक्ति-सिद्ध स्वरूप स्थिति और यहाँ माया से जुड़कर संसार के ससुराल में पड़े हुए हैं जिसे ससम्मान छोड़ देने में ही आत्मा का कल्याण है। आत्मा स्वयं ईश्वर रूप है किन्तु उस समय प्रच्छन्न रूप को निखार देने के लिए जरूरी है कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य के मार्ग की आराधना दी जाय और कर्म मूल को काटा जाय जिससे यही आत्मा-परमात्मा का सर्वोत्कृष्ट रूप ग्रहण कर सकें।

एक अपेक्षा से जैनधर्म ईश्वरवादी नहीं है किन्तु दूसरी अपेक्षा से ईश्वरवादी है भी सही। एक ईश्वर है और वह कर्ता है। ऐसी मान्यता में हम सत्य नहीं देखते हैं किन्तु हर आत्मा में ईश्वर का रूप विद्यमान है जिसे चरम प्रगति के बिन्दु तक उठा देने पर वह रूप प्रकाशित हो जाता है। एक

वार आत्मा के सिद्ध-बुद्ध होने पर उसका ससार से किसी भी रूप में कोई सम्बन्ध नहीं रहता ।

और जैन दर्शन की इस मान्यता के मूल में रही हुई है कर्मण्यता की भावना और समानता का सन्देश । हर आत्मा बराबर है अपनी शक्ति और अपने स्वरूप की दृष्टि से किन्तु उस शक्ति और स्वरूप की प्राप्ति होती है एक कठिन साधना के बाद । इसलिए यह मान्यता प्रेरणा जगाती है कि हर आत्मा अपने उत्थान के लिए पराक्रम करे, कर्म बाधाओं को काटकर मुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़े । हम भी यह मान्यता हृदयगम करते हुए मुक्ति पथ पर अग्रसर हो, यही मेरी कामना है ।

सब्जी मण्डी, दिल्ली

२५-३-१९५१

जैन सिद्धान्तों में सामाजिकता

यह भगवान महावीर की प्रार्थना है। भगवान महावीर का जन्म ढाई हजार वर्ष पहले उस समय हुआ था जब चारो ओर घोर हिंसामय विकृतियाँ छाई हुई थी। पुरोहितो ने धर्म पर ठेका जमा लिया था तथा ईश्वर और मनुष्य के बीच सम्बन्ध कराने के वे ठेकेदार बन गये थे। वर्ण-व्यवस्था के नाम पर समाज में फूट, कलह तथा पारस्परिक विद्वेष की भावनाएँ प्रबल रूप धारण की हुई थी। छुआछूत के झूठे भगडे पूरी मात्रा में चल रहे थे और ऊँच-नीच का भेद कटु और वीभत्स हो रहा था। धर्म के नाम पर यज्ञों में घोड़े और मनुष्यों तक की बलि दी जाती थी और उसे हिंसा नहीं कहा जाता था। इस तरह अमानवीय लीला के उस वातावरण में भगवान महावीर ने जन्म लिया था।

और जहाँ ज्यादा विकृति फैल रही हो, महापुरुषत्व भी उसी में प्रकट होता है कि अन्धकार में प्रकाश की ज्योति जगाई जाय। फिर महावीर तो युग पुरुष थे। उन्होंने समाज में नई समानता की भावना का विकास किया। यद्यपि उन्होंने जिस जैन शासन को प्रदीप्त किया, उसका मुख्य मार्ग निवृत्ति मार्ग है अर्थात् सासारिक प्रपञ्चो से जितनी मात्रा में निवृत्त हुआ जा सके, होकर आत्मा को मुक्ति मार्ग की ओर आगे बढ़ाया जाय। प्रत्यक्ष लक्ष्य साफ था लेकिन निवृत्ति की भावना ही ससार के प्राणियों में क्लव पैदा होगी, इस प्रश्न पर महावीर ने गम्भीरता से सोचा और उस विकृतियों से भरे युग में उन्होंने एक-एक विकृति को चुन-चुनकर मानव हृदयों में से काटा व एक नये आस्थावान् वातावरण का सर्जन किया।

यह निश्चय है कि जब तक सासारिक क्षेत्र में ही एक भावनापूर्ण वातावरण की सृष्टि नहीं होगी, समाज में परस्पर व्यवहार की रीति-नीति रुमान व सम्यक् नहीं बनेगी तो निवृत्ति के मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति भ

साधारण रूप से पैदा नहीं हो सकेगी । इसलिए समाज में समान और सम्यक् वातावरण पैदा हो तथा सामाजिकता की भावना का प्रसार हो, यह निवृत्ति के प्रत्यक्ष लक्ष्य का पर्यक्ष साधन माना गया । क्योंकि यह ससार में प्रवृत्ति कराने की बात नहीं थी वरना सामाजिक सुधार द्वारा निवृत्ति के लक्ष्य को मस्तिष्क में स्पष्ट कराने का अथक प्रयास था ।

यही कारण है कि उस अमानवीय युग में श्री महावीर ने जो समान मानवता का अलख जगाया और नया जागरण पैदा किया वही महावीर का प्रमुख महावीरत्व है ।

मैं अभी आपको विस्तार से बताऊँगा कि महावीर के सिद्धान्तों में किस तरह समानता का अनुभाव कूट-कूटकर भरा है और ऐसा लगता है कि इस तरह एक लक्ष्य के लिए महावीर ने चतुर्मुखी प्रयास किये । एक दृष्टि से उन्होंने यह सिद्ध किया कि सारे प्राणी एक समान हैं, एक समान शक्ति के धारक हैं और समान सम्मान के अधिकारी हैं और इसी धारणा को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उन्होंने न सिर्फ तत्कालीन समाज में ही एक क्रान्ति की, बल्कि क्रान्ति की बलवती ध्वनि को युग-युगों के लिए गुंजायमान कर गये । जैन सिद्धान्तों में सामाजिकता की प्रभावशाली प्रेरणा भरी होने की यही मुख्य पृष्ठ-भूमिका है ।

सबसे पहले जैन सिद्धान्तों में आध्यात्मिक दृष्टि से यह बताया गया है कि निश्चय नय से सभी आत्माएँ समान हैं । सभी अपना समान सर्वोच्च विकास साध सकती हैं और सभी आत्माओं में अनन्त शक्ति विद्यमान है । अनन्त आत्माएँ हैं उन सब का एक ही लक्षण है और जो भेद दृष्टि है वह सिर्फ कर्मों के कारण ही है । ये कर्म भी इन्हीं आत्माओं की उपज होते हैं । आत्माएँ ही स्वयं कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं, इस व्यापार में वे किसी भी अन्य शक्ति द्वारा प्रतिबन्धित नहीं होती । जैन मान्यता ने ईश्वर को सृष्टि का कर्ता इसीलिए नहीं माना है कि यह सिद्धान्त आत्माओं में भेद करता है और ईश्वरत्व को आत्मा के सर्वोच्च विकास से अलग मानता है जो समानता की दृष्टि से सर्वथा अनुचित व अप्राप्त्य है । प्राणीमात्र को

हमारे यहाँ विकास की दृष्टि से पाँच भागों में बाँटा गया है, एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक और मनुष्य पचेन्द्रियो में श्रेष्ठ प्राणी है। इस मूल आध्यात्मिक धारणा को पुष्ट करते हैं जँनों के अहिंसा और अनेकान्तवाद के सिद्धान्त जो आचार और विचार की दृष्टि से मनुष्य में एकता और समता पैदा करता है।

जब सिद्धान्तों के मूल में ही मानव समानता का लक्ष्य सामने रखा गया तो वह साफ था कि उसका सुप्रभाव समाज की हर दिशा में पड़ता। इसलिए जैनधर्म ने कृत्रिम वर्ण व जाति भेद को सर्वथा तिरस्कृत किया और यह विचार फैलाया कि मनुष्य की समानता के आगे ये सब परम्पराएँ आघातकारी और विघ्नकारी हैं। जैनधर्म जाति या वर्ण के प्रचलित आधारों में विश्वास नहीं करता। कोई भी व्यक्ति इसी-ए बड़ा या छोटा नहीं है कि वह प्रमुख वर्ण या जाति में पैदा हुआ है।

वर्णवाद को गम्भीर चुनौती देते हुए महावीर ने उद्घोष किया कि वर्ण से कोई क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र माना भी जाय तो उसका आघात उसके द्वारा किये जाने वाले कर्म ही होंगे। यदि कोई वर्ण से ब्राह्मण है और कर्म शूद्र के करता है तो जैन सिद्धान्त उसे ब्राह्मण मानने को तैयार नहीं, वह शूद्र की ही श्रेणी में गिना जायगा। इसी तरह जाति या कुलो की ऊँच नीचता भी मनुष्यों की ऊँच-नीचता नहीं हो सकती। महावीर ने घुले तीर पर वर्ण, जाति और कुलो के भेद-भावों के आधार पर खड़े हुए समाज को लक्ष्यकारा और उसे सर्व समानता का नवीन आधार प्रदान किया।

उन्होंने कहा कि धर्म किसी का तिरस्कार करना नहीं सिखाता, भेद भाव की सीटियाँ नहीं गहता। आत्माएँ सब एक हैं, मनुष्य एक हैं तो उनमें कर्म के अनाग भेदभाव कौन सा? जाति-पाँति या कि छुआछूत, ये सब अमानुषिक भेदभाव हैं। सभी मनुष्यों के एक ही इन्द्रियाँ हैं, विवेक और अनुभव की दृष्टि है, हो सकता है कि वातावरण के अनुसार इन शक्तियों के विकास में अन्तर हो, किन्तु उनकी मूल स्विति में जब कोई भेदभाव नहीं है तो कोई कारण नहीं कि एक कुल या जाति में जन्म लेने में एक मनुष्य

तो पूजनीय और प्रधान का पात्र हो जायगा और दूसरा जन्म लेने मात्र से ही नीच, अधर्म और अनादर का भाजन हो जायगा ।

सच पूछा जाय तो यह परम्परा बनाई धर्म के उन ठेकेदारों ने जो धर्म को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझने लगे थे । ब्राह्मणों का उच्च वर्ग इसलिए माना गया कि वे साधनारत होकर ज्ञान का पठन-पाठन करते किन्तु वे तो आचरण के घरातल को छोड़कर वर्णों के आघार पर ही अपने-आपको बड़ा समझने लगे । इसी प्रकार क्षत्रियों व वैश्यों का भी समाज रक्षा व पालन का जो कर्तव्य था, वह भी कमजोर हो गया । अब इन तीनों वर्गों के दंभ का सारा बोझ गिर पडा शूद्रों पर, जिनके कर्तव्य तो तीनों वर्णों की हर प्रकार की सेवा के थे मगर अधिकार कुछ नहीं और आश्चर्य तो इस बात का कि धर्म के क्षेत्र में भी वे निरीह बना दिये गये । धर्मस्थान में जाने का उनको अधिकार नहीं, धर्मग्रन्थ पढ़ने के वे योग्य नहीं और धर्म-गुरुओं का उपदेश भी वे नहीं मुन सकते । एक तरह से सामाजिक अन्याय की हद हो गई थी और यह हद इतनी नफरत-भरी थी कि चाँडाल और मेहतर वर्गों को छूआ नहीं जा सकता । छूने से उच्च वर्णों का धर्म भ्रष्ट हो जाता । एक मनुष्य पशु को छूता था लेकिन अपने जैसे ही मनुष्य को छूना पाप था ।

और आज भी वही घृणित परम्परा चल रही है, छूआछूत की बीमारी गांधीजी के सत्प्रयासों के बाद भी घर करे बैठे हुई है । अग्रेजी फैशन में पडे लोग कुत्तों को गोद में लेकर बैठेंगे, मगर हरिजन को नहीं छुएँगे । मनुष्यता का इससे अधिक पतन क्या हो सकता है कि मनुष्य मनुष्य का इतना बीभत्स अनादर करे ? और जब आप यह सोचेंगे कि हरिजन का ऐसा अनादर क्यों होता चला आ रहा है तो मेरा विचार है कि लज्जा से सिर झुक जायगा । इसीलिए तो उनका अनादर है कि वे आप लोगों का मैला अपने सिर पर उठाकर ले जाते हैं, जबकि सेवा का इससे बड़ा उदार क्या काम हो सकता है । माता होती है, बड़ी खुशी से अपने बालक की विष्टा साफ करती है, क्या आप उससे घृणा करोगे ? उसकी ममता पूजी जाती है तो फिर हरि-

जन के साथ ऐसा अन्याय क्यों कि छुआछूत की प्रथा चलाई जाय ? इसी छुआछूत ने हरिजनो के सत्कारो को गिराया है और उनके जीवन में आचरण की विकृतियाँ पैदा की है। आज जब उन्हें समाज में समान दर्जा मिलने लगेगा तो स्वयमेव उनके जीवन में भी विकास होने लगेगा।

तो महावीर ने इस छुआछूत को भी बुनियाद से हिलाया था। धर्म वा आचरण जो भी करेगा, वह ऊँचा चढ़ेगा। उसमें कोई भेदभाव नहीं कि चाडाल, भ्रातृक वा साधु धर्म का आचरण न कर सके। जैन धर्म में जो तो कठं हरिजन वा चाडाल हुए होंगे किन्तु चाडाल मुनि हरिकेशी बड़े प्रतापी हुए है यद्यपि हरिकेशी प्रत्येक बुद्ध थे, वे स्वयं प्रतिबोध पाये। स्वयं ही दीक्षित हुए। और गए व गुरु किसी की भी सहायता न लेते हुए साधना क्षेत्र में आगे बढ़े व चरम विकास कर मोक्षगामी हुए। अतः उनकी वह अद्वय्या हमारे लिए आदर्श उपस्थित करती है।

जैन धर्म ने जाति, वर्ण व कुल के भेदभावों की जगह मानव समता ही नहीं बल्कि प्राणी मात्र की नमता की रक्षापना की और गुण पूजा तथा आचरण को महत्ता प्रदान की। इस तथ्य का परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक मनुष्य अपने ज्ञान और आचरण का विकास करके अपने जीवन में प्रगति लाने का प्रयास करे और जो इन क्षेत्रों में ऊपर चढ़ता जायगा वही अपने गुणों की दृष्टि से ऊँचा होता जायगा। यह धारणा है जिसमें हर प्राणी में विकास का एक उत्साह जागता है और हीन मान्यता पैदा नहीं होती। समाज में आध्यात्मिक व व्यवहारिक समता पैदा करने का महावीर का यह अनुपम उपदेश था।

पुरुषों और स्त्रियों की विकास क्षमता में भी जैन धर्म कोई भेद नहीं करता क्योंकि आत्म-विकास में लैंगिक भेद की भी कोई बाधा नहीं होती। समादर की दृष्टि से भी हमारे यहाँ दोनों में भेद नहीं होती क्योंकि समादर की दृष्टि से हमारे यहाँ साधना और गुणों पर है। आप पुरुष होते हुए भी साधक्यो की वन्दना करते ही हैं, क्योंकि स्त्री होने हुए भी साधना और गुणों में वे आप आदर से ऊँची होती है। वास्तव में देखा जाय तो जैन-

सिद्धान्त मनुष्यों के बीच किसी भी प्रकार के भेदभावों को मान्यता नहीं देते और यही जैन धर्म की सर्वोत्कृष्ट विशेषता है कि वह मानवता का कितना बड़ा संरक्षक व उन्नायक है ?

इस गुणपूजा में जैन धर्म बाह्याडम्बर को मुख्य नहीं मानता, मुख्य है व्यक्ति का जीवन स्तर और उसमें प्राप्त किया हुआ आत्मा का विकास महावीर के समवशरण में मगध के महाराजा श्रेणिक और सकड़ाल कुम्हार का स्थान समान था क्योंकि वह समानता उनके बाह्याडम्बर पर आवारित नहीं थी। वह समानता उनके आन्तरिक विकास की स्थिति को जताती थी। धनिक व गरीब का भी कोई अन्तर नहीं था। आत्म-साधना आनन्द श्रावक ने भी की, जो कोटि-कोटि सम्पत्ति का स्वामी था और उसी श्रेणी की आत्म-साधना पूणिया श्रावक ने भी की जिसके घर में एक समय का पूरा अन्न भी नहीं था, किन्तु बारह उच्च श्रावकों की पात में दोनों के सम्माननीय स्थान में कोई अन्तर नहीं था।

आज भी आप लोग देखते हैं कि समाज में धनिक और गरीब की स्थिति में बड़ी विषमता पाई जाती है। प्रतिष्ठा और सामाजिक सम्मान का प्रतीक धन अधिक बन गया है और गुणों का स्थान कम महत्त्वपूर्ण हो गया है, यह स्थिति जैन सिद्धान्तों की दृष्टि से उचित नहीं मानी जा सकती। इस विषमता पर आघात करने के लिए ही जैन दर्शन का अपरिग्रहवाद महावीर ने सम्मुख रखा। समाज में यदि श्रावक धन सम्पत्ति व उपभोग-परिभोग की समस्त सामग्रियों के उपयोग की मर्यादा बाँध लें और उसमें अपने ममत्व को कम करते जावें, स्वामित्व को छोड़ते जावें तो जरूरी है कि समाज की सम्पत्ति का अधिक-से-अधिक हाथों में विकेंद्रीकरण होता जायगा और समाज में जब दुःख और विषमता घटेगी तो यह कल्पना आसानी से की जा सकती है कि उस समय समाज में रही हुई असमानता व अनीति भी घटेगी। इसीलिए अपरिग्रहवाद का सामाजिक पहलू यह है कि वह परिग्रह के दंभ को हटाकर सामाजिक समानता का मार्ग प्रशस्त करता है।

इसके साथ ही श्रावक व साधु धर्म में जिस प्रकार हिंसा का निषेध

किया गया है, वह समाज में एक उदार संस्कृति का प्रसारक है व प्रतिशोध की भावनाओं का शमन करता है। जैन धर्म अहिंसा प्रधान है लेकिन हिंसा और अन्याय में टक्कर हो जाय तो अन्याय को सहन करना गलत माना गया है। श्रावक चेदा महाराजा का दृष्टान्त आप जानते हैं कि न्याय की रक्षा के लिए उन्होंने भयंकर युद्ध किया किन्तु फिर भी वे अपने श्रावकत्व से स्थलित नहीं समझे गये। समाज में समानता तभी फलेगी जब न्याय वृद्धि बनी रहेगी, वरना अगर अन्याय करने पर ही शक्तिधारी मनुष्य तुल जायेंगे तो वे समानता की रक्षा भी कतई नहीं करेगे।

इन तरह जैन सिद्धान्तों की जो गति है वह निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति की है, प्रवृत्ति के लिए प्रवृत्ति की नहीं। निवृत्ति का प्रसार उसी समाज में हो सकेगा जिसमें गुणों और आचरण की पूजा होती होगी। किन्तु जब तक ऐसा स्वर्ग समाज बनेगा नहीं तो यह भी सम्भव नहीं हो सकता कि निवृत्ति का व्यापक प्रसार हो सके। 'जे कम्मे सूरु, ते धम्मे सूरु' हमारे यहाँ कहा गया है कि शूद्रता पहले पैदा होनी चाहिए और वह जब कर्म में पैदा होगी तो धर्म में भी पैदा होगी। धर्म का आचरण तभी युद्ध बन सकेगा जब समाज का व्यवहार शुद्ध होगा और समानता के जो स्रोत जैन सिद्धान्तों के अनुसार मीने ऊपर बताये हैं, वे ही सशक्त साधन हैं जिनके आधार पर समाज के व्यवहार का शुद्धि कारण किया जा सकता है।

भारत देश कहने की तो धर्म प्रधान है पर आज दिशा किधर की है, यह समझने की बड़ी आवश्यकता है। क्या कोई भी व्रत किसी का तिरस्कार करना सिखाता है? इसका यही उत्तर है कि, नहीं। अहिंसा व्रत का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि किसी का मन, बचन या काया किसी से भी तिरस्कार करना हिंसा है, गुण और विकास की दृष्टि को छोड़कर शृणित दृष्टि से दुःखानु के झूठे भेद तथा धन के शोछे भेद से ऊँच-नीच का व्यवहार करना भी हिंसा है। अहिंसक बहलाने वाले जैन बन्धुओं को सोचने की जरूरत है कि वे कीड़ों और मकोड़ों को क्लामणा उपजाने में तो पाप समझते हैं लेकिन पचेन्द्रिय मनुष्यों की भयंकर क्लामणा उपजाने

और उनका तिरस्कार करने में क्यों कोई भी जघन्य कार्य नहीं समझते, उसमें महागण नहीं मानते ? किसी काल में अहंकार की भावना ने जाति, वर्ण व कुलगण भेदभावों को जन्म दिया तथा आज अर्थगत भेदभाव जटिल बनते जा रहे हैं किन्तु इन सब भेदभावों में प्रायः सत्याज्ञ कुछ भी नहीं है, यह जैन सिद्धान्तों की दृढ़ धारणा है, क्योंकि ये सब भेदभाव अहंकार को पुष्ट करते हैं जो समानता का विरोधी है। “मागेण अहमागई”—उत्तग-ध्ययन सूत्र में कहा है कि मान से आत्मा अधम गति को पहुँचती है और जब मानव अधमाई की ओर बढ़ता है तो वह सत्य को नहीं समझ पाता।

भगवान् महावीर ने प्राणीमात्र की एकता, समानता और आत्म-सम्मान और निर्वाह का आदर्श प्रस्तुत किया। उनका ढाई हजार वर्ष पहले कहा गया यह वाक्य आज भी एक नवीन प्रकाश प्रदान कर रहा है कि—

“अप्पसमं मन्येच्छधिकार्यं ।”

छहों काया के समस्त जीवों को अपनी ही आत्मा के समान समझो। कितना विशाल और उदार सिद्धान्त है यह ? पर आज उन वीर प्रभु के उपासकों का ही मुख किधर है ? यह सोचें कि आत्मवत् व्यवहार से आपकी कितनी दूरी है ?

आज जैनधर्म के पुनीत सिद्धान्तों की माँग है कि उन पर आचरण किया जाय वरना अनाचरित सिद्धान्तों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता और उनके आचरण का अर्थ होगा कि आप समानता के अनुभाव को हृदय में जमा लें और समाज के विभिन्न क्षेत्रों में उसका व्यवहारिक प्रयोग करें। जब यह तैयारी आप लोगों की हो जायगी तो मानव के बीच रहे हुए अगुण कृण किसी भी प्रकार के अन्तर को आप सहन न कर सकेंगे चाहे वह अन्तर जाति का वर्णों के भेद पर खड़ा हो या कि आर्थिक विषम के कगार पर और तभी धर्म का भी स्वस्थ आचरण प्रारम्भ होगा। मानव के मानवोचित सम्यक् कर्तव्यों का पुज ही तो धर्म है जो समाज में बन्धुता और समता की धारा बहाते हुए आत्म-विकास की दिशा में पराक्रमशाली बनाता है।

जैन-सिद्धान्तों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे समाज और

व्यक्ति दोनो किनारो को छूते हैं और समाज की स्वस्थ रीति-नीति पर व्यक्ति के विकास का एव व्यक्ति की तेजस्विता पर समाज के उत्थान का मार्ग प्रगस्त करते हैं। दोनो के अन्योन्याश्रित सम्बन्धो से दोनो का विकास साधना चाहते हैं ताकि मनुष्य का निवृत्तिवाद न सिर्फ आत्म-कल्याण के लिए ही आवश्यक बने बल्कि वह मनुष्य की विकसित होती हुई सामाजिकता के लिए भी आवश्यक हो। सजग सामाजिकता आत्म-कल्याण की ज्योति जगाए यही जैन-सिद्धान्तो का सन्देश है।

जैन मन्दिर, जाहदरा, दिल्ली

प्रथम आषाढ़ कृष्णा २ स० २००७



